Chapter-3

तृतीय अध्याय

लाल के नाट्य-सिद्धान्त विषयक-ग्रन्थों का अध्ययन

लाल के नाट्य सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों में भी रचनात्मक धरातल की विकास प्रक्रिया का वही रूप ह देखने को मिलता है जो उनके सम्पूर्ण नाटकों एवं एकांकी नाटकों में प्राप्त होता है। यहां यह तथ्य द्रष्टव्य है कि नाट्य सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों के लेखन की विकास प्रक्रिया में वह सातत्य नहीं है जो उनके नाटकों एवं एकांकियों रचना में मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि अभी इस प्रकार के लेखन में वह पूर्णता नहीं आयी है जो नाटकों की रचना में धरातल की खोजसे लेकर अभिव्यक्ति के धरातल के रूप में प्राप्त होती है। अद्यतन नाट्य-सिद्धान्त-विषयक ग्रंथों की रचना में मनन, आदर्श एवं चर्वण द्वारा नाट्यसिद्धान्तों की कसौटी प्राप्त कर लेने का जो कार्य हुआ है- वहइस दिशा में एक सफल प्रयत्न कहा जा सकता है। यत्र तत्र नाटकों और एकांकियों की भूमिका के रूप में नाट्य समीक्षाओं के जो अधुनातम प्रतिमान लाल ने स्थापित किये हैं वे एक सम्पूर्ण संकलित ग्रन्थ की अपेक्षा रखते हैं। इससे उनके नाट्य दर्शन को एकरूपता प्राप्तहो सकेगी। लाल द्वारा अब तक प्रकाशित सिद्धान्त विषयक ग्रंथों की विकास प्रक्रिया को इस प्रकार लक्ष्य कियाजा सकता है -

कालखण्ड	ग्रन्थ	रचनात्मक धरातल की विकास प्रक्रिया
सन् १९६१ से १९६५ तक	रंगमंच और नाटक की भूमिका	यथार्थ धरातल
सन् १९७१ से १९७५ तक	आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच, पारसी हिन्दी रंगमंच।	कसौटी का धरातल

नाट्यसिद्धान्त विषयक ग्रंथों में विकासशील रचनात्मक धरातल का पहला पडाव 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' की रचना के रूप में देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ की रचनाग त पृष्ठभूमि में सन् १९६५ की वे विदेश यात्राएं हैं जिनके माध्यम से लाल को भारतेतर नाटक और रंगमंच से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। विश्व मंच पर नाट्य लेखन व मंच-अनुष्ठान की प्रकृति और मौलिकता एवंइस परिवेश में संस्कृत नाटक व रंगमंच की परंपरा को तुलनात्मक दृष्टि से देखने के का बोध इन

यात्राओं से प्राप्त हुआ । इससे नाट्य सिद्धान्तों के सम्बंध में लाल को अनुभवजन्य यथार्थ दृष्टि मिल सकी । इस दृष्टि के कारण लाल को हिन्दी नाटक और रंगमंच के अभावों का भी बोध हुआ । यही रंग अन्वेषण की वह भूमिका कही जा सकती है जिसके सम्बंध में लाल ने लिखा है-"रंगमंच-अन्वेषण का कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जो व्यावहारिक रंगमंच में एक सजग, सचेत कार्यकर्ता के व्यक्तित्व को सतत जी रहा है । या जो उस महत व्यक्तित्व को जीने की कामना करता है । वरना केवल बुद्धि द्वारा किसी भी देश, युग, प्रकृति के नाटक और रंगमंच को पूर्ण रूप से न समझा ही जासकता है, न ग्रहण ही किया जा सकता है ।"[१] रंगमंच और नाटक की भूमिका में अनुभवों पर आधारित यथार्थ के धरातल को संस्कृत व पश्चिम -दोनों ही प्रकार के रंगमंचों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है । नाटक और रंगमंच के सम्बंध में अध्ययन अधिक सटीक बन पाता यदि लाल ने स्वतंत्र रूप में भारतीय और पाश्चात्य नाट्य परंपरा का विवेचन प्रस्तुत न करके दोनों प्रकार की परंपराओं को अन्योन्याश्रित एवं तुलनात्मक दृष्टि से देखा होता ।

लाल के नाट्य-समीक्षक रूप की पहिचान सन् १९७१ से १९७५ के मध्य लिखे गये ग्रन्थों `आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच` और `पारसी हिन्दी रंगमंच` द्वारा होती है । ये दोनों ग्रन्थ उनके नाट्य-समीक्षक के व्यक्तित्व की कसौटी सिद्ध होते हैं । `आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच` की समालोचना -दृष्टि को वैज्ञानिक तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें लाल ने व्यक्तिगत मान्यताओं को ही सर्वोपरि बनाकर प्रस्तुत किया है, वह अन्यान्य नाट्यगत मान्यताओं को समन्वित करके अथवा उस परिप्रेक्ष्य में को समाहित करके नहीं करती । इस चिंतन प्रक्रिया को आत्मसात की हुई अध्ययन की मौलिक दृष्टि भी नहीं कहा जा सकता । समालोचना दृष्टि का मंजन अन्यान्य चिन्तन से होना नितान्त आवश्यक है । अनेक स्थानों पर अपनी मान्यताओं के आरोपण से नाटक और रंगमंच विषय का

१- रंगमंच और नाटक की भूमिका- निवेदन ।

अध्ययन अपूर्ण रह जाता है और इस दिशा में इसप्रकार की प्रभाववादी आलोचना उपयुक्त कसौटी भी प्रदान नहीं करती । उदाहरण के लिये प्रसाद जी के नाट्य-शिल्प और भाव बोध को विपरीत अश्वों पर सवार होने की संज्ञा देना,[१] प्रसादोत्तर नाटकों को सर्वथा `मूड` या `तर्क` पर आश्रित मानकर उन्हें काव्यत्व से हीन सिद्ध करना (जिसकी चर्चा लाल ने काकटेव, रैसाइन इत्यादि के रंगमंच के सन्दर्भ में की है)[२], प्रसाद जी में रंगमंच के अभाव की स्थापना ~~केवल के साथ~~ बेवाकपूर्वक करते हैं[३] किन्तु उसे पारसी रंगमंच के शिल्प और तंत्र को ग्रहण करने की बात कहकर परोक्षत: स्वीकार करते हैं कि प्रसाद जी में रंगमंच-परिकल्पना भी थी । बात यहीं समाप्त नहीं होती क्योंकि वे पारसी रंगमंच की परंपरा को समृद्ध घोषित करते हैं, विशेषकर पारसी रंगमंच के अंदर निहित अभिनय के सम्बंध में उनका यह कथन-`भाषा का अत्यधिक प्रयोग पारसी थियेटर और प्रसाद दोनों में हुआ है । पारसी थियेटर में इसके अति प्रयोग के पीछे दो कारण थे । वहां अभिनेता एक ही बात को, भावना को दो तरह से दुहरे ढंगसे कहता था । पहले वह दर्शक को बताता था, फिर वही स्वयं कहकर उसी का अभिनय करता था ।--- पर बुनियादी ढंग से ~~इन~~ इस भाषा प्रयोग में अभिनेता इसके भीतर विद्यमान था और साथ ही इसमें दर्शक भी शामिल था । अतएव, भाषा का यह अति प्रयोग रंगमंच में घुलमिल गया था । इसी के अनुरूप उसमें अतिरंजना प्रधान, चमत्कार मूलक एवं घटनाएं और कार्य व्यापार थे, इसलिये भी भाषा प्रयोग की वह अराजकता उसका अभिन्न अंग बन जाती थी ।`[४] - पारसी अभिनय की उत्कृष्टता को प्रसाद जी से तुलनीय बताकर

१- आधुनिक हिन्दी नाटक रंगमंच । पृ० ४४

२- वही- पृ० १२

३- वही-पृ० ४३-४४

४- पारसी हिंदी रंगमंच-पृ० १८३

प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता की पुष्टि ही करता है । प्रसाद जी का नाटकीय व्यक्तित्व पारसी नाटककारों की तुलना में अधिक गहन और चिन्तनशील था । अतएव साहित्यिकता और व्याख्या के तत्व उनके अभिनय को परिष्कृत ही बना सकते हैं, लाल के अनुसार अभिनेता व दर्शक से दूर छूट जाने का कारण बने-यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता । इस ग्रन्थ में ही आगे चलकर प्रसाद जी की रंग-परिकल्पना के सम्बंध में जैसे लाल एक समझौता करते प्रतीत होते हैं, शायद प्रसाद जी जैसे व्यक्तित्व की सर्वथा उपेक्षा न हो, इससे प्रेरित होकर- 'दर असल प्रसाद के भाव पक्ष, कथा और काव्य तत्वों को ध्यान में रखकर इनके नाटकों का सारा रूपबन्ध ~~अयथार्थ~~वादी होना चाहिये- उदाहरण के लिये आकारवादी, प्रतीक-वादीया अभिव्यंजनावादी । तभी इन नाटकों का सौंदर्य समझा जा सकता है ।'[१] जब लाल रूपबन्ध के स्तरपर पारसी नाटकों के यथार्थवाद का प्रसाद जी के नाटकों में उक्त विकल्प या परिष्कार (आकारवादी, ~~प्रतीकवा~~ प्रतीकवादी या अभि-व्यंजनावादी) स्वीकार ~~करले~~- कर सकते हैं तो यह क्यों नहीं कि उनकी (प्रसाद जी) साहित्यिकता और व्याख्या शक्ति उनके नाटकों को अभिनय की दृष्टि से पारसी नाटकों की तुलना में अधिक परिष्कृत बना सकती हैं । उपर्युक्तविसंगतियों के उपरांत प्रस्तुत ग्रन्थहिंदी नाटकों को रंगमंचीय कसौटी प्रसादकर 'स्थालीपुलाक न्यायवत्' लाल के नाट्य व्यक्तित्व को इतिहास-परक समालोचना दृष्टि देता है ।

लाल के नाट्य समीक्षक व्यक्तित्व की दूसरी कसौटी है 'पारसी हिन्दी रंगमंच' जो इस विषय पर लिखी जानेवाली इनी गिनी पुस्तकों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है । यह निर्विवाद सत्य है कि पारसी नाटकों को नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में सम्मानपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया है । लाल का यह ग्रन्थ पारसी रंग-परंपरा को उसका उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न है । पारसी थियेटर की मूल प्रकृति,

---

१- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-पृ० ६०

उसका संक्षिप्त ऐतिहासिक व्यौरा- रचना विधान एवंउसके प्रस्तुतीकरण पक्ष पर लेखक की दृष्टिउसे ऐसीकसौटी प्रदान करती है जिस पर कसे जाने पर पारसी रंगमंच की नाट्य व रंगजगत में देन को सहज ही समझा जा सकता है । इस सम्बंध में लेखक का यह कथन द्रष्टव्य है-`पारसी रंगमंच के हिन्दी नाट्य का औरपारसी हिन्दी रंगमंच का अध्ययन करना एक तरह से हिन्दी रंगमंच को खोजना है ।[१] यहां यह ज्ञातव्य है कि लाल ने पारसी रंगमंच के अध्ययन का क्षेत्र सीमित रखा है अर्थात् हिन्दी तक ही विस्तार दिया है । लेकिन यह भी सत्य है कि हिन्दी में पारसी रंगमंच रंग परम्परा पर्याप्त विस्तृत है । बेताब, राधेश्याम कथावाचक और आगाहश्र हिंदी क्षेत्र केपारसी रंगमंच की परंपरा को आगे बढाने वाले थे । किन्तु उनका नाम संपूर्ण पारसी रंग परंपरा में प्रतिनिधि नाटककारों के रूप में विख्यात है । ऐसे में लाल का यह ग्रन्थ केवल हिंदी क्षेत्र में ही पारसी नाटककारों की उपलब्धियां काआकलन नहीं करता प्रत्युत इस माध्यम से सम्पूर्ण पारसी नाट्य व रंग मंच के इतिहास के रूप में समझना उचित नहीं । इसका लक्ष्य तो इस परंपरा के नाटकों के शिल्प व रंग सत्य का विवेचन करना है । इसी कारण इस ग्रन्थ के संघटन में ऐतिहासिक दृष्टि नहीं मिलती-इस सम्बंध में एकसामान्य ऐतिहासिक विकास कृम कासंकेत हीमिलता है । पारसी हिन्दी रंगमंच को मुख्य रूप से यहां शिल्पगत कसौटी पर ही कसा गया है और इसके लिए चार अध्याय औरपरिशिष्टों का संयोजन हुआ है ।

नाट्य- समालोचन कीदिशा में लाल द्वारारचनात्मक-धरातल की विकास प्रक्रिया में उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ कसौटी सिद्ध होते हैं । यद्यपि इन ग्रन्थों में व्याव-हारिक नाट्य समीक्षा सिद्धान्तों का अभाव दिखाईदेता है ।और कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने अपने अद्यतन रचे गये नाटकों में से ही निकालकर मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्याकी हो तथापि नाटककार के रूप में उस उत्तरदायित्व

१- पारसी हिंदी रंगमंच(डा० लक्ष्मीनारायणलाल)पृ० ३०

~~२- रंगयोग(सं०सुधा राजहंस)वर्ष-८-अंक-२-पृ० ४~~

का निर्वाह तो किया ही गया है जिसके सम्बंध में कहा जाता है- `लक्ष्मीनारायण लाल उन नाटककारों में से हैं जिन्होंने समय-समय परनाटककार कीजिम्मेदारी के सम्बंध में सवाल उठाये हैं तथा लेखन, निर्देशन, अभिनय और संगठन-समीस्तरोंपर अपने अनुभव द्वारा नाटक और रंगमंच सम्बन्ध स्थापित करने का तथानाटक के प्रति सही आलोचनात्मक दृष्टि पैदा करने में सक्रियता और जागरूकता दिखाई है ।[१]

नाट्य-सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थों का अध्ययन-

लाल ने नाट्यसिद्धान्तों पर आधारित प्रथम सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना अपनी विदेश यात्रा के तत्काल बाद की । ग्रन्थ का नाम है- `रंगमंच और नाटक की भूमिका` । इसकाप्रथमसंस्करण सन् १९६५ में नेशनल पब्लिशिंग हाउस-दिल्ली से प्रकाशित हुआ था । जैसा कि लाल ने प्रारंभ में स्पष्ट किया है, प्रस्तुत ग्रन्थ मूलत: रंगमंच और नाटक की उस भूमिका पर एक दृष्टि है जिसने पूर्व और पश्चिम दोनों ही के आधुनिक रंगमंच के स्वरूप और प्रकृति को निर्धारित करने का कार्य किया है ।[२] इस ग्रन्थ में संस्कृत और पश्चिम के नाटक और रंगमंच को उनकी सम्पूर्णता में देखने का प्रयास किया गया है ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया गया है । प्रथम, अनुक्रम और इसके बाद पहला भाग और दूसरा भाग । अनुक्रम का प्रारम्भ `रंगमंच प्रस्तावना` से है । इसमें नाटक और रंगमंच के सम्बंध में कतिपय शब्दों को उनके मूल अर्थ से पकड़ने का प्रयास किया गया है । ये शब्द हैं -`नाट्य, `थियेटर`, `रंग` और `ड्रामा` । इनशब्दों के अर्थ गौरव के सम्बंध में जो भ्रामक दृष्टि रही है, उस पर लेखक ने यहांदृष्टिपात किया है । साथही उनके मूल और व्यापक अर्थ को किस

१- देखिये- रंगयोग(सं० सुधाराजहंस)वर्ष-८,अंक-२,पृ० ४

२- देखिये- रंगमंच और नाटक की भूमिका- निवेदन ।

प्रकार हमने स्वतंत्रता के बाद नाटकों में प्राप्त करना प्रारम्भ किया है- इस पर विशद विवेचन इस अध्याय में हुआ है । इस प्रस्तावना को ही आधार बनाकर निम्नांकित दो अध्यायों में रंगमंच और उसकी रीति । रंगमंच अन्वेषण में रंगमंच को परिभाषित किया गया है । रंगमंच को प्रधानता देते हुए उसमें नाट्य- कृति के स्थान का निर्धारण भी किया गया है । `रंगमंच` और उसकी रीति` अध्याय रंगमंच पर नाट्य कृति के प्रस्तुतीकरण की प्रविधि को दो मुख्य रंग रूपों में देखने का प्रयास है- असत्याभासी भावधर्मी रीति और सत्याभासी प्रतिनिधान रीति । यहीं रंगमंच पर अभिव्यक्ति की प्रक्रिया और उस प्रक्रिया में काम आनेवाले दो मुख्य तत्व अभिनेता एवं दर्शक- का भी विवेचन हुआ है । इसी अध्याय के अन्त में रिचर्ड साउथर्न कृत `दी सेवन एजेज आफ दी थियेटर` नामक ग्रन्थ में वर्णित रंगमंच के सात चरणों का उल्लेख किया गया है जो आदिकाल से लेकर वर्तमान असत्याभासी रंगमंच की परम्परा का सातत्य बतानेवाले हैं ।

`रंगमंच प्रस्तावना ` के पश्चात पहला भाग ` संस्कृत रंगमंच पर व्यापक दृष्टि से विचार करने वाला अध्याय है । इसकाप्रथमअध्याय संस्कृत रंगमंच के कृतित्व पक्ष अर्थात् रूपक (नाटक) के सम्बंध में है । इसमें प्रथम नाटक के सम्बंध में धनंजय की व्याख्या को स्वीकार करते हुए उसे रूपक के रूप में परिभाषितकिया गया है । तत्पश्चात नाटक के आधारभूत तत्वों की व्याख्या हुई है । इन तत्वों के विवेचनान्तर्गत अर्थ प्रकृतियां, अवस्थाएं, सन्धियां (कथा वस्तु से सम्बद्ध) भी विस्तार से विवेचित हुई हैं । इन स्थापनाओं के उपरान्त नाटक का स्वरूप और प्रकृति और उसके अनुसार `नाट्यशास्त्र` मेंवर्णित नाटक की परिभाषा को निष्कर्षत: स्थापित किया गया है । तत्पश्चात हिन्दी अथवा संस्कृत रंगमंच की धार्मिताओं का उल्लेख है । इसी अध्याय में नाटक के तीन प्रमाणों- लोक-धर्म, वेदएवंआध्यात्म की भी चर्चा हुई है । नाटक की सफलता या असफलता की कसौटी ही उक्त तीन तत्व हैं । तत्पश्चात नाटक के अंग और उनसे निर्मित रंगमंच की प्रकृति कासंकेत देकर नाटक के वर्ण्य-विषय की चर्चा हुई है । इस वर्ण्य विषय की व्यापकता इसी तथ्य सेदृष्टिगोचर होती है कि इसमें देव और मनुष्य दोनों को ही समाहित किया गया है । इनके मध्य मानव

मूल्यों की स्थापना और समाज कीवास्तविक रूप रचना को आधार मानकर चलने वाले विषयों को समाविष्टकिया गया है । अध्याय का अन्त नाट्यगत मान्यताओं और भारतीय जीवन दर्शन के विवेचन के साथ है । नाटक के परिप्रेक्ष्य में प्रच्छन्न मांगलिक भाव, पुनर्जन्म और कर्मफल की आस्था के साथ आनन्दवादी दर्शन और नाटक में सुखान्त की स्थिति विवेचन के मुख्य अंग हैं ।

संस्कृत रंगमंच का दूसरा पक्ष है-प्रस्तुतीकरण । इस अध्याय में सर्व प्रथम प्रस्तुतीकरण के उद्देश्य की चर्चा करते हुए इस सन्दर्भ में रूपकों के अनेक भेदों की चर्चा की गयी है और इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में उनकी सोद्देश्यता की स्थापना की गयी है । तत्पश्चात प्रस्तुतीकरण की मूल मक दृष्टि की चर्चा है । संस्कृत रंगमंच पर घटना व कार्य व्यापार में उसके रसात्मक पक्ष का महत्व अधिक है, बौद्धिकता के प्रति आग्रह का कम । इसीलिये प्रस्तुतीकरण में अयथार्थता का आग्रह अधिक है । प्रस्तुतीकरण के इस पक्ष के विवेचन के साथ नृत्य और अभिनय,सम्वाद, कार्य, गति और दृश्यात्मकता को भी वर्णित किया गया है । संस्कृत रंगमंच की कतिपय विशिष्ट तकनी तकनीकों - अनेक धरातली मंच, अदृश्य और नेपथ्य, अभिनटन और नृत्य रचना के तत्व(मूर्च्छा आदि) यहां प्रयुक्त हुए हैं । प्रस्तुतीकरण के ही सन्दर्भ में अभिनय का भी प्राथमिक महत्व है और यहनाटक का मुख्य ह अंग है । इस अभिनय और उसके उपस्थापन की विभिन्नप्रणालियों का यहां उल्लेख किया गया है । इस अभिनय पक्ष के माध्यमों और तत्वों एवं अभिनय के मण्डल,गति,करण, अंगहार और रेचक अंगों के विवेचन के साथ यह अध्याय समाप्त होता है ।

आगामी अध्याय `दर्शक ` रंगमंच और नाटक के महत्वपूर्ण आयाम दर्शक के सम्बंध में अपना दृष्टिकोण व्यक्त करता है । यहां प्रारंभ में भरतमुनि प्रणीत `नाट्यशास्त्र` सम्मत दर्शकों के गुणों का वर्णन किया गया है । साथही उन अपेक्षाओं का भी वर्णन है जिनके बिना दर्शक नाटक का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता । उन प्रविधियों का भी उल्लेख है जो दर्शक को नाटक के प्रेक्षण के लिये

आकर्षित करती हैं । दर्शक के ही परिप्रेक्ष्य में नाट्य-सिद्धियों पर भी विचार हुआ हुआ है ।

रंगमंच प्रेक्षागृह' नामक आगामी अध्याय में नाट्य शास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृहों के विविध प्रकारों का विवेचन हुआ है । साथ ही इनके आकार-प्रकार पर भी एक दृष्टि दी गयी है । मंच पर कक्षा-स्थापन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली मत्तवारिणी को भी इस अध्याय में विशेष दृष्टि के साथदेखा गया है ।

प्रथम भाग का अंतिम अध्याय 'भारतीय रंगमंच -इतिहास और परम्परा' का प्रारम्भ संस्कृत नाटक और रंगमंच के उद्भव के सम्बंध में विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना से प्रारम्भ होता है । इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में लेखक ने अपनी मान्यताओं की स्थापना करते हुए नाटक और रंगमंच की उत्पत्ति यज्ञों से मानी है । तत्पश्चात वैदिक युग से इस नाटक व रंगमंच की परम्परा का उल्लेख करते हुए क्रमश: उसका विकास बौद्धकाल, अश्वघोष, भास, कालिदास, शूद्रक,हर्ष, भट्टनारायण, विशाखदत्त, भवभूति, राजशेखर और जयदेव के युग तक किया है । यहीं इस परम्परा और संस्कृत नाटकों के गौरवशाली युग की समाप्ति की बात कही गई है । संस्कृत नाटकों की उक्त शास्त्रीय परम्परा के अन्त के बाद मध्यकालीन परंपरा का प्रवर्तन होता है जिसे लेखक ने लोकधर्मी और धार्मिक -दो प्रकार की नाट्य-परंपराओं के रूप में देखा है । प्रथम प्रकार की परम्परा का आश्रयदाता लोक जीवन रहा है और द्वितिय प्रकार की परम्परा लीलाओं के रूप में धार्मिक अंचलों में पनपती रही ।परम्परा के इनयुगों को अन्तत: लेखक ने ऐतिहासिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण माना है लेकिन जीवित रंगमंच की दृष्टिसे उनका विशेष महत्व नहीं माना है ।

ग्रन्थ का दूसरा भाग पाश्चात्य रंगमंच के कृतित्व पक्ष (ड्रामा) से प्रारंभ होता है । यहां सर्वप्रथम पाश्चात्य रंगमंच के प्राचीनतम डायोनिसस के थियेटर का उल्लेख हुआ है और उसी परिप्रेक्ष्य में यूनानी नाटककारों की उपलब्धियों का भी

विवेचन हुआ है । तत्पश्चात ड्रामा की परिभाषा और इस सम्बंध में अनुकरण सिद्धान्त (theory of imitation) की व्याख्या हुई है । इसके बाद ड्रामा को मौलिक विशेषता और उसके मूलाधार पर विचार किया गया है । तदनन्तर ड्रामा और ड्रैमेटिक के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करते हुए इसकी विविध धर्मिताओं, विशेषकर संकलन त्रय की विशेष चर्चा हुई है । इसके बाद ड्रामा के प्रतिमानों की चर्चा है । यहीं थियेटर और ड्रामा के मौलिक अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है । ड्रामा की चर्चा के सम्बंध में आगामी महत्वपूर्ण बिन्दु हैं ड्रामा के तत्वों का अध्ययन और लेखक ने अरस्तु द्वारा निर्धारित छः तत्वों ~~का अध्ययन और लेखक ने~~ पर समीक्षापरक दृष्टि प्रदान की है ।

ड्रामा के सम्बंध में पाश्चात्य दृष्टि के तीन मौलिक चिन्तन बिन्दु हैं - संघर्ष, दःखान्तिकी( ) और सुखान्तिकी( ) इन तीनों पर एकचिन्तन पूर्णदृष्टि भी यहां दी गयी है । दुखान्ति की आत्मा और उसके मूलभूत तत्व, भारतीय जीवन दर्शन से इसका वैशिष्ट्य, इसके तत्व, स्वरूप और प्रकृति इत्यादि की विवेचना यहां हुई है । इसी प्रकार सुखान्ति की की रोमीय और शेक्सपियरीन शैली का वर्णन करते हुए इसके प्रकारों और प्रदर्शन समस्या पर भी विचार किया गया है । यहींप्रासंगिक रूप में पाश्चात्य रंगमंच पर प्रहसन की भी चर्चा हुई है ।

पाश्चात्य रंगमंच का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है - प्रस्तुतीकरण - प्रस्तुतीकरण की स्वायत्त कला के रूप में स्थापना करते हुए, नाटक में व्याप्त भाव और म विचार को प्रस्तुतीकरण की कला के माध्यम से सम्प्रेषित करने के लिये, विषय-वस्तु के प्रति अपनी अवधारणा और फिर कला माध्यमसे उसके अभिव्यक्ति के लिये, उसकी शिल्प-विधि का विवेचन किया गया है । तत्पश्चात प्रस्तुतीकरण के तीन मुख्य आधार स्तम्भों-निर्देशक, अभिनेता और अभिनय, मंच सज्जा पर एक दृष्टि दी गयी है ।

प्रस्तुतीकरण-पक्ष का ही एक महत्वपूर्ण अंग है प्रेक्षागृह । पश्चिम में

प्रेक्षागृहों कीएक सुदीर्घ परम्परा रही है और उसका विवेचन यहां हुआ है ।

प्रस्तुतीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण घटक है दर्शक । रंगमंच और दर्शक की अन्योन्यता सिद्ध करते हुए लेखक ने पश्चिम के ग्रीक, एलिजाबेथन, रैस्टॅरिशन इत्यादि रंगमंचों के दर्शक वर्ग की प्रकृति और रुचि वैविध्य की चर्चा की है ।

पाश्चात्य रंगमंच का अन्तिम अध्याय `इतिहास और परम्परा` डायोनिसस के थियेटर से लेकर क्रमश: रोमन थियेटर, मिडीवल थियेटर, रिनेसायुग, एलीजाबेथन थियेटर, फ्रेन्च-क्लासिकल युगऔर रैस्टोरैशन थियेटर तक की उपलब्धियों पर एक विहंगम दृष्टि डालता है । यहीं यह भी संकेतित किया गया है कि रैस्टोरेशन युग से पाश्चात्य रंगमंच यथार्थवाद की ओर संक्रमित हो चला था । इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच में आधुनिक रंगमंच के विकास की जो भूमिका है, उसे रैस्टोरैशन युग तक स्वीकार किया गया है । संस्कृत और पाश्चात्य रंग परम्परा के सम्बन्ध मेंलेखक ने उन सीमाओं को स्पष्ट कर दिया है जिसके बाद से दोनों ही रंगमंचों ने आधुनिक युग में प्रवेश लिया है- संस्कृत रंगमंच के विकास की यह सीमा है मध्य युग की नाट्य परम्परा और पाश्चात्य रंगमंच की यह सीमा है- रैस्टोरैशन युग ।

लाल के अन्य दो ग्रन्थ `आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच` एवं `पारसी हिन्दी रंगमंच `ऐतिहासिक अनुक्रम में अपने विषय का सैद्धांतिक प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ हैं । इस प्रकार वे दोहरी दृष्टि लेकर लिखे गये हैं ।- ऐतिहासिकता और सिद्धान्त विवेचन दोनों समानान्तर रूप से करने का प्रयास हुआ है । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

`आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच ` (प्र० साहित्य भवन, प्रा०लि० इलाहाबाद,प्रथम संस्करण १६७३) पांच बड़े अध्यायों में विभाजित कियागया है । प्रथम अध्याय `आधुनिक रंगमंच` फिल्म और कैमरे के यथार्थवाद की प्रक्रिया में उठ खड़े हुए अयथार्थवादी रंगमंच और उसमेंनिहित काव्यात्मकता के विवेचन से प्रारंभ होता है । लेखक ने इब्सन,चेखव् आदि के यथार्थवादी रंगमंच की तुलना में अयथार्थ-

वादी रंगमंच के महत्व की स्थापना करते हुए भारतीय रंगमंच को आधुनिक बनाने की दिशा में नाटक और रंगमंच के अन्योन्य होने की आवश्यकता पर बलदिया है। यही नाट्य-कला का सही प्रतिमान है- ऐसी लेखक की मान्यता है। कहीं रंगशाला में दर्शकों को आकर्षित करने की समस्या पर भी विचार हुआ है। स्वातन्त्र्यपूर्व भारतीय रंगमंच में नाटककार ,दर्शक औरनिर्देशक की जो दूरी थी - वह स्वतंत्रता के पश्चात किस प्रकार शनैः शनैः मिटी और मिट रही हैं- इस पर भी विचार किया गया है। अन्त में भारतीय रंगमंच को सही दिशा देने में नाटककार के समक्ष आनेवाली चुनौतियों से भी साक्षात्कार किया गया है।

द्वितीय अध्याय `आधुनिक रंगमंच में नाटक का जीवन सन्दर्भ `। आधुनिक रंगमंच में समकालीन जीवन की प्रासंगिकता किस रूप में व्यक्त होती है- इसे स्पष्ट किया गया है। यहां लाल अपनी इस मान्यता को प्रकट करते हैं कि नाटक में यथार्थ जीवन को लिखा नहीं प्रत्युत भोगा जाता है। नाटक जीवन के बहुविध प्रसंगों को दृश्यत्व में रूपायित करने में कवि औरशिल्पी दोनों ही व्यक्तित्वों का निर्वाह करता है। जीवन सन्दर्भों के इस प्रस्तुतीकरण से रंगमंच एक सर्वथा नवीन प्रयोग को जन्म देता है जिसका विवेचन यहां हुआ है। नाटककार रंगमंच परनीरस और अर्थहीन जीवन प्रसंगों को यथार्थ बोध के साथ भी किस रचनात्मक कुशलता के साथ प्रस्तुत कर सकता है- इसे यहां स्पष्टकिया गया है। इस प्रकार आधुनिक रंग नाटकों के लिये एक और शिल्प कौशल पर बल दियागया है और दूसरी ओर निजी जीवन सन्दर्भों की खोज पर।

तृतीय अध्याय` स्वतंत्रता के बाद का हिन्दी रंगमंच` पृथ्वी थियेटर और इण्डियन पीपल्स थियेटर से लेकर संगीत नाटक एकेडमी और नेशनल स्कूलआफ ड्रामा देश के विभिन्न भागों में औंकिया हिन्दी रंगमंच की स्थापना, नाट्य केन्द्र, `सम्वाद` इलाहाबाद आदि रंग संस्थाओंकी उपलब्धि परअपने विचार प्रस्तुत करता है।

पंचम अध्याय `आधुनिक हिन्दीनाटक` ऐतिहासिकदृष्टि से बीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ भारतेन्दुयुगपर एक विवेचन करता है।इसके पश्चात क्रमशः जयशंकरप्रसाद के

नाटकों, समस्या नाटकों, सांस्कृतिक नाट्य(हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायणमिश्र), गीति नाट्य, एकांकी लेखन और नये हिन्दी नाट्यलेखन पर कथ्य,शिल्प एवं रंगमंच की दृष्टि से भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत समीक्षा-परक अध्ययन हुआ है । इन्हीं के साथ हिन्दी एकांकी के स्वरूप और विकास पर सैद्धांतिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से विचार हुआ है । इसके अन्तर्गत सर्व-प्रथमप्रथम विश्वयुद्ध के परिप्रेक्ष्य में बदलते जीवन मूल्य मूल्यों के मध्य एकांकी के जन्म की चर्चा हुई है । तत्पश्चात् इसके यथार्थवादी रूप की चर्चा करते हुए इसके स्वरूप की मौलिकता और सहज छाप को देखने के लिये 'एक घूंट' से पूर्व की नाट्य स्थितियों को परखा गया है । इनमें दो विरोधी सत्यों- भारतेन्दु, प्रसाद की विशुद्ध साहित्यिक नाट्यधारा और आगाहश्र, बेताबादि का व्यावसायिक नाट्य-के मध्य समन्वयात्मक चेतना के रूप में एकांकी के उद्भव को परखा गया है । तत्पश्चात् हिन्दी एकांकी साहित्य को दो सरणियों में विभाजितकिया गया है - ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता के धरातल पर साहित्यिक एकांकी एवं यथार्थ सामाजिकता के स्वर से अभिनेय एकांकी । यहीं इन एकांकियों के सन्दर्भ में संकलन त्रय को परखा गया है ।

उपर्युक्त अध्यायों की समाप्ति के पश्चात एक परिशिष्ट दिया गया है - 'आज का पश्चिमी नाट्य'। हिन्दी रंगमंच के स्वरूप को समझने के लिये समकालीन पाश्चात्य रंगमंच पर यह परिचयात्मक परिशिष्ट सिद्ध होता है । यहाँ पाश्चात्य नाट्य-जगत के विविध रूपों-एब्सर्ड नाटक, वन एक्ट प्ले, नेकेड ड्रामा, पोलिश लैब थियेटर, टोटल थियेटर आदि पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डाली गयी है और उनके औचित्यानौचित्य परविचार किया गया है ।

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी रंगमंच पर पारसियों ने एक सर्वथानये प्रकार के नाट्य प्रयोग ने धूम मचा रखी थी । जिसे उन्हीं के नाम पर पारसी हिन्दी नाटकों की संज्ञा दी जाती है । इस रंगमंच

और इसकी रंग व नाट्यप्रणालियों के सम्बंध में अनेक पक्ष और विपक्ष के मत दियेजाते हैं। इसे हिन्दी की साहित्यिक नाट्य-परम्परा में स्थान दिया जाय अथवा नहीं-इसविषय पर अनेक विवाद हैं। लाल ने इस विवादास्पद सुदीर्घ परंपरा परस्क मौलिक दृष्टि दी है। और 'पारसी थियेटर को इसकी समग्रता में देखने और इसके नाट्य मूल्यों को तलाशने का संकल्प फल[1] किया है। यह संकल्प उनके ग्रन्थ 'पारसी हिन्दी रंगमंच(प्र॰ राजपाल एण्ड सन्स,कश्मीरी गेट ,दिल्ली। प्रथम संस्करण १६७३) की रचना के रूप में पूर्ण हुआ। ॰ ग्रन्थ पारसी हिन्दी रंगमंच और नाटक के ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ उसके सैद्धांतिक पक्ष पर भी एक दृष्टि प्रस्तुत करता है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ नौ अध्यायों और तीन परिशिष्टों मेंविभाजित किया गया है। पहला अध्याय 'पारसी थियेटरकी मूल प्रकृति और उसका रंग सत्य' है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम पारसी थियेटर की देश व्याप्ति की विवेचन कर विभिन्न भाषाओं के पारसीथियेटरों के मध्य पारसी हिन्दी थियेटरया रंगमंच के महत्व की स्थापना की गयी है। तत्पश्चात इस रंगमंच के विगत एक शताब्दी के इतिहास की चर्चा करते हुए पारसी हिन्दी थियेटर के तीन प्रमुख नाटकारों नारायणप्रसाद, 'बेताब', आमादृश्य कश्मीरीऔर राधेश्याम कथावाचक के नाट्य-कर्म की चर्चा हुई है। इसकेब बाद पारसीथियेटर के नामकरण में प्रच्छन्न कारण के सम्बन्ध में विचार हुआ है और निष्कर्षत: नामकरण के पीछे छिपी व्यावसायिकता को स्पष्ट किया गया है। यहींपारसी हिन्दी रंगमंच की विशेषताओं और उसमें छिपे भारतीय सांस्कृतिक बोध की चर्चा की गयी है। इस रंगमंच के विकास के साथ शनै: शनै: इसकी बदलती प्रकृति और उसकी अभारतीयता का भारतवर्ष की संस्कृति के अनुरूप ढल जाने की प्रक्रिया का भी वर्णन हुआ है। अन्तत: निष्कर्ष निकाला गया है कि पारसी रंगमंच के अन्तर्गत हिन्दी नाट्य ने भारतीय दर्शकों से सर्वप्रथम निकट से साक्षात्कार किया।

१- पारसी हिन्दी रंगमंच- पृष्ठ- १२

ग्रन्थ का दूसरा अध्याय `रंगभूमि : पारसी थियेटर क्या था ? पारसी थियेटर कीऐतिहासिक पृष्ठभूमि परप्रकाश डालता है । इस सम्बंध में उस विशद राजनीतिक ,आर्थिक व सामाजिक पृष्ठभूमि का वर्णनकिया गया है जिसमें अंग्रेजों द्वाराहिन्दुस्तान में अपने देश के डिकेडेण्ट थियेटर के प्रभाव रूप पारसी थियेटर का चलन हुआ । यहीं पारसी थियेटर के उस दर्शक-रुचि वाले वैशिष्ट्य का भी चित्रण हुआ है जिसने उसे समाज-सापेक्ष दृष्टि प्रदान की ।शनैः शनैः पारसी थियेटर ने अपना मौलिक स्वरूप की स्थापना की जिसके कतिपय उदाहरणों द्वारा इस निजी रंगस्थिति को स्पष्ट किया गया है ।

तीसराअध्याय `पारसी हिन्दी रंगमंच- `प्रकृति और मर्यादा ` पारसी हिन्दी रंगमंच के तीन प्रमुख नाटककारों- राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद `बेताब` एवं आगाहश्र कश्मीरी की पारसी मंच का विकास करने में प्रदान की गयी भूमिका का सविस्तार वर्णनकरता है । इननाटककारों की रचनात्मक उपलब्धियों पर प्रकाश डाल कर लेखक ने पारसी हिन्दी-नाटकों की भारतीय सांस्कृतिक प्रकृति और पौराणिक , सामाजिक मर्यादा को स्पष्ट किया है ।

चौथा अध्याय `नाटक कम्पनियां, रंगमंच के विविध चरण और नाट्य-साहित्य ` में प्रथम पारसी नाटकों की नाट्य-प्रकृति और विविध कम्पनियोंकी नाट्य-प्रदर्शन-पद्धति के परिप्रेक्ष्य में इसका काल विभाजन व नामकरण किया गया है- उद्भव काल(१८५३ ई० से १९०० तक) , विकास काल(१९०१ से १९१७ तक), उत्कर्ष काल(१९१८ से १९४० तक) एवं उत्तर काल १९४० से १९६० तक) । तत्पश्चात् इन कालों पर ऐतिहासिक दृष्टि से अलग-अलग विवेचन हुआ है । इन विवेचनों में नाटक कम्पनियों की स्थापना, उनके द्वारा नाटकों का मंचन आदि के सम्बंध में प्रामाणिक सूचनाएं दी गयी हैं । साथ ही इन युगों में शनैः शनैः नाटकों के रचना व प्रस्तुती स्तर पर जो सुधार होते रहे ह उनका भी संकेत कर दिया गया है । इन युगों में उपर्युक्त तीन नाटककारों के साथ अन्य नाटककारों के नाट्य-साहित्य

का उल्लेख करने के बाद उक्त तीनों नाटककारों के नाटकों की तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ पौराणिक, रोमानी और पुनरुत्थानवादी का उल्लेख कर तत्कालीन नाट्य-लेखन की परिस्थितियों और उद्देश्य का वर्णन हुआ है । तत्पश्चात तीनों प्रवृत्तियों वाले नाटकों का कथावस्तु, उद्देश्य और साधन की दृष्टि से आकलन हुआ है ।

पांचवा अध्याय `नाटक का रचना विधान` पारसी नाटकों पर सैद्धांतिक दृष्टि से विचार करता है । इस अध्ययन का प्रथमबिन्दु है कथावस्तु और रचना विधान । इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम नाटककार की मालिक और प्रस्तुतीकरण के मध्य कड़ी होने की स्थिति का स्पष्टीकरण कर नाटक की विषय वस्तु के चयन में नाटककार की व्यावसायिक दृष्टि की ओर संकेत किया है । तत्पश्चात विषय-वस्तु के लिये उपर्युक्त प्रवृत्तियों के चयन की सीमा संकेतित करते हुए नाटक की विषय वस्तु और चरित्र विधान की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है । यहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन नाटकों की कथावस्तु और चरित्र का शिल्प शेक्सपियर इत्यादि के समान हुआ है अर्थात् उन पर पश्चिमी प्रभाव स्पष्ट है । यहीं पारसी नाटकों द्वारा शेक्सपियर के यथामूल नाटकों से भी की गयी है । कथावस्तु और चरित्र की, अतिरिक्त अंक औरदृश्य विधान, प्रवेश और प्रस्थान सम्बंधी नाट्य रूढियों के पारसी नाटकों में किये गये प्रयोगों के विवेचन द्वारा तत्सम्बंधी सिद्धान्त-प्रतिपादन किया गया है । रंगकार्य-व्यवहार, अभिनय व दृश्यत्व,सम्वाद और वाचिक-आंगिक अभिनय, भाषा एवं छन्द की दृष्टि से भी नाटकों को कसौटी पर कसा गया है एवं उपयुक्त उदाहरण भी दिये गये हैं । इन दृष्टियों से रोमानियत (आगाहश्र), पौराणिकताऔर पुनरुत्थान(राधेश्याम व बेताब) वादी धाराओं के नाटकों की समीक्षा हुई है ।

छठा अध्याय `पारसी रंगमंच के आधारभूत तत्व` इस रंगमंच के व्यावहारिक स्वरूप की मर्यादाको स्पष्ट करते हुए उसमें नाट्य लेखन पर लगी पाबंदियाँ और अपेक्षाओं की चर्चा करता है । इस दृष्टि से नाटक लेखन को नियंत्रित करनेवाले विशिष्ट रंग तत्वों- निर्देशक, रिहर्सल या तैयारी, अभिनय, प्रस्तुतीकरण की

विविध शिल्प विधियां और संगीत व नृत्य- पर इस अध्याय में सविस्तार चर्चा हुई है । निर्देशक इन तत्वों मेंप्राथमिक है और उसकी सर्वोच्चता पर यहां एक दृष्टि देते हुए नाटककार पर उसकी इच्छा -अनिच्छा के प्रभाव की चर्चा की गयी है । निर्देशक के मौलिक होने के तथ्य के प्रमाण के लिये उसके व्यक्तित्व के साथ बंधे तीन आयामों संगीत-निर्देशक,सीन-सीनरी निर्माण एवं अभिनेता पर निर्देशक के नियंत्रण और प्रभाव का भी वर्णन किया गया है । तत्पश्चात् कतिपय प्रसिद्ध निर्देशकों का नामोल्लेख हुआ है । पारसी रंगमंच के दूसरे मुख्यतत्व रिहर्सल,उसकी मर्यादाएं एवं मुख्य रूप से उसकी प्रक्रिया का उल्लेख भी किया गया है । पूर्वाभ्यास के विभिन्न रूपों पाठशुद्धि,मुंह पर चढ़ना, याद करना, खड़े होकर अभ्यास करना इत्यादि पर भी प्रकाश डाला गया है ।

पारसी रंगमंच के दो विशेष रंगतत्वों अभिनय एवं संगीत और नाट्य पर विस्तार से आगामी दो अध्यायों में चर्चा की गयी है । 'अभिनय' नामक सातवें अध्याय में प्रथम पारसी मंच पर अभिनेता का महत्व एवं उसके साथ जुड़ी मनुष्य की प्रबल भावनाओं का चर्चा करक कर इन भावों की अभिव्यक्ति में कुशल अभिनेता की आवश्यकता पर बल दिया गया है । उदाहरण के लिये आगाहश्र कृत 'भीष्म प्रतिज्ञा' से कतिपय अंश भी दिये हैं । अभिनय के विभिन्न रूपों में वाक् अभिनय और अति अभिनयपर भी विशेष चर्चा हुई है । मंच पर गति और रंगचर्या का पारसी मंच पर विशेष महत्व है और यहां इस पर प्रकाश डाला गया है । इसके पश्चात पारसी रंगमंच के प्रसिद्ध अभिनेता,हास्य-अभिनेता,अभिनेत्रियों की सूची दी गयी है ।जो इस अभिनय परम्परा को पुष्ट करने वाली हैं ।

आठवां अध्याय 'संगीत और नृत्य परम्परा और प्रकृति' एक अन्य विशिष्टआधारभूत तत्व है जिस पर यहां विचार हुआ है । सर्वप्रथम पारसी रंगमंच मेंसंगीत और नृत्य की परम्परा के उद्गम की शोध की गयी है । इसके लिए तीन मुख्य स्रोत संस्कृत और मध्ययुग, लोकनाटक और रंगमंच एवं पश्चिमी आपेरा तथा बेले पर एक दृष्टि दी गयी है । इन्हीं के मध्य पारसी मंच पर संगीत व नृत्य के

व्यवहार की चर्चा हुई है । मंच संगीत के विविध प्रकारों और उनकी मंच पर प्रस्तुतीकरण के प्रच्छन्न कारणोंपर भी यहां व्यापक दृष्टिपात किया गया है । पारसी मंच के संगीत पर लोक संगीत का जो प्रभाव पड़ा है उसमें नौटंकी, रास एवं लावनी गायन के प्रभावों पर विशेष विचार हुआ है । पारसी थियेटर में संगीत के विविध प्रयोगों में शास्त्रीय, लोक, विदेशी प्रयोगों को सोदाहरण स्पष्ट किया गया है । इसी के साथ पारसी थियेटर के संगीत के अनेक प्रकारों का उल्लेख है, यथा- वन्दना, मंगलाचरण या सलाम और नान्दी के गाने और नृत्य, चरित्रगान और नृत्य, सोलोडान्स के गाने और नृत्य-समूह नृत्य के गाने, फड़के बाजी या ठेके लड़ने के गाने और नृत्य, उपदेश और सन्देश के गीत पर सोदाहरण विवेचन हुआ है । इसके पश्चात् नृत्य पक्ष की अनेक बारीक तकनीकी आयामों की चर्चा है ।पारसी नाटकों के विभिन्न चरणों में इनमें किस प्रकार अन्तर आता गया- इस पर भी यहां दृष्टि दी गयी है । अन्त में मुख्य कम्पनियों के संगीत और नृत्य सम्बंधी अभिनेता, अभिनेत्रियों एवं संगीत निर्देशकों काउल्लेख हुआ है ।

नवां अध्याय`पारसीथियेटर काल का हिन्दी नाटकऔर रंगमंच`,`आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच` ग्रन्थ में `हिन्दी रंगमंच और नाटक` नामक अध्याय के रूप्प में दिया गया है जिसका प्रतिपाद्य ऊपर चर्चित हो चुका है । इन अध्यायों की समाप्ति पर दो परिशिष्ट दिये गये हैं । प्रथम परिशिष्ट में क्रमश: `वहमीजंगी` (नाजा देहलवी कृत),`रामायण (बेताब कृत) एवं `गाजीमुस्तफा कमाल`(मुंशी दिलशनवी कृत) नाटकों के सारांश दिये गये हैं जो पारसी नाटकों के रचना - विधान के समझने में सहायता करते हैं । दूसरा परिशिष्ट प्रचार और विज्ञापन के स्तर को प्रकट करने में सहायक है । यहां `दी पारसी कारोनेशन थियेट्रिकल कम्पनी` द्वारा खेले जानेवाले बेताब कृत `हमारी भूल` और लशनवी कृत `गाजी मुस्तफा कमाल` नाटकों की विज्ञापन से सम्बंधित पैमफ्लैट्स दी गयी हैं ।

नाट्य-समीक्षा के सिद्धान्तऔर उक्त ग्रन्थ (लाल के नाट्य-समीक्षक व्यक्तित्व की समीक्षा):

लाल उन नाट्य समालोचकों में से एक हैं जो नाटक को रंगमंच के सन्दर्भ की

अनिवार्यता से परखते हैं । उनकेअनुसार जो `रचना` मंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत `रंगशाला` में बैठे दर्शकों द्वारा रागरंजित नहीं होती, वह कोई नाटक नहीं । रचना का नाटक रूप तमीसार्थक है जब उसके समीक्षा मूल्य को `रंग` या `नाट्य` के सन्दर्भ के साथ देखा जाय ।[१] यहां ध्यातव्य है कि लाल नाटक की उल्लेख रूप में रचना की महत्ता को अस्वीकार नहीं करते । जब वे कहते हैं कि नाटक की रचना-प्रक्रिया नाटककार की कलम से शुद्ध होकर निर्देशक,अभिनेता, रंगशिल्पी और दर्शक तक पहुंचकर प्र सम्पूर्ण होती है[२] तो निश्चय ही वे नाट्य-लेखन की क्रिया को ख उपेक्षित नहीं करते । हां, यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि लेखन बिना प्रस्तुती के अधूरा है । निःसंदेह जो वस्तु प्रस्तुत कियेजाने को है उसका आलेख समक्ष होना आवश्यक है और जब प्रस्तुती के लिये आलेख की रचना होती है तो उसका प्रस्तुत किया जाना ही लेखन कीसार्थकता है । नाटक और रंगमंच के इस अन्योन्याश्रय को संस्कृत और पाश्चात्य- दोनों ही रंगमंचों के सन्दर्भ में खोजा जा सकता है । नाट्य शास्त्र में जब यह कहा जाता है कि :-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विधा न सा कला ।
नऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्नदृश्यते ।।-तो `नाट्य` में निहित दृश्यत्वकी अनिवार्यता समक्ष आ जाती है । संस्कृत-युग में भरतमुनि के समय तक `नाट्य` शब्द रंगमंच के सन्दर्भ को समाहित करके चलता रहा था । `अवस्थानुकृतिर्नाट्य` में `अनुकृति`, `रूपं दृश्यतयोच्यते` में `दृश्य` और `रूपकं तत्समारोपात्` में `आरोपण` नाट्य के मंचत्व की अनिवार्यता को साथ लेकर चलते हैं। दूसरी ओर, पाश्चात्य रंगमंच में `ड्रामा` की अवधारणा में प्रच्छन्न अनुकरण- सिद्धान्त (Theory of imitation) में अनुकरण कीप्रक्रिया वस्तुतः दृश्यत्व का ही उपजीव्य है । अरस्तु ने ड्रामा के तत्वों की चर्चा में दृश्यत्व को प्रधानता दी है । ऐसी स्थिति में नाटक और रंगमंच की परस्परता अनिवार्य सत्य बन जाता है । अपने ग्रन्थों में लाल ने इस परस्परता को दृष्टि में रखा है । फलतः वे हिन्दी नाटकों की उस

१- देखिये-रंगमंच और नाटक कीभूमिका-रंगमंच -प्रस्तावना` से ।

२- वही-

परम्परा में नये प्रतिमान स्थापित करने की दिशा में उन्मुख हुए हैं जिसके अनुसार नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में दृश्यत्व को संयुक्त करने-कने-कि में संकोच किया जाता रहा। हिन्दी नाटकों की इसपरंपरा के नाट्य समीक्षक नाटक में दृश्यत्व बोध की अपेक्षाओं से या तो परिचित नहीं थे या उनके पास उस दृष्टि की गहनता तक पहुंचने की सामर्थ्य का अभाव था। इस अभाव को लाल ने अनुभव किया- फलत: अपने नाटकों में निहित विचार-तत्व को प्रकट करने के लिये ऐसी भाषा के प्रयोग की दिशा खोजना प्रारम्भ किया जिसमें अमूर्त अवधारणा को मूर्त कार्य-व्यापार द्वारा प्रदर्शित करने की शक्ति हो। भाषा की ऐसी खोज दो स्तरों पर अवधारणा को मूर्त करने की दिशा में समर्थ बना सकी- प्रथम, भाषा में निहित शब्दों की लय या काव्य की पकड़ औरद्वितीय, उन शब्दों से अभिनेता को कार्य(Action) के लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त करने की संभावना। नाटक को इस प्रकार कार्य अथवा दृश्यत्व से जोड़कर लाल ने नाट्यालोचन को नयी दिशा प्रदान की। इस रूप में उन्होंने साहित्यालोचन और नाट्यालोचन में एक विभाजन रेखा खींचने का कार्य किया। नाटक और रंगमंच की उक्त परस्परता की अनिवार्यता का ही परिणाम है कि लाल ने 'पारसी हिन्दी रंगमंच' में पारसी हिन्दी नाटक की समालोचना के अन्तर्गत दोहरी दृष्टि का परिचय दिया है। ग्रन्थ के पांचवें अध्याय में रचना-विधान की चर्चा के अन्तर्गत एक साथ दोपक्ष- एक ओर, कथावस्तु, चरित्र विधान, सम्वाद, भाषा और दूसरी ओर अंक और दृश्य,प्रवेश और प्रस्थान,रंगकार्य और व्यवहार, अभिनय और दृश्यत्व, प्रस्तुतीकरण और संगीत-नृत्य का विवेचन कर नाटक और रंगमंच को समन्वित किया गया है।

लाल ने नाटक और रंगमंच के सम्बंध में हिन्दी क्षेत्र में उत्पन्न विलगाव को दो रूपों में देखा है :-

(क) पारसी रंगमंच और नाटक को 'थियेटर' और 'ड्रामा' कहा गया और इसे पूर्णत: विदेशी नकल मानकर इसे सर्वथा अछूत माना गया।

(ख) मस्रलने-रंममंच इसकी प्रतिक्रिया में उसने नाटक को रंगमंच से दूर कर इसे साहित्यिक बनाने के लियेइसे भाव, विषय और भाषा- अभिव्यक्ति सभी स्तरों से अत्यन्त गम्भीर , क्लिष्ट और उपदेशमय बनाया । इसे किसी तरह संस्कृत नाट्य से जोड़कर स्वदेश बोध, प्राचीन भारतीय गरिमा, शुद्ध भारतीय आदि मण्डित करना चाहा ।[1] हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में साहित्यिक और रंगमंचीय नाटकों के विभाजन का मूल यही है इस सन्दर्भ में लाल ने भारतेन्दु से लेकर प्रसाद, मिश्र आदि स्वातंत्र्यपूर्व नाटककारों में रंगमंचीयता का अभाव और इस मध्य पारसी नाटककारों द्वारा हिन्दी रंगमंच को जीवित रखने की बातकही है ।

यहां स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या वस्तुत: भारतेन्दु एवं अन्य स्वातंत्र्य पूर्व नाटककारों में रंगमंचीयता का अभाव है । इस सम्बंध में लाल की इस टिप्पणी को देखा जाना समीचीन होगा -`किन्तु इस आधुनिक रंगमंच की अपनी वह शक्ति भी है जो फिल्म, रेडियो तथा टेलिविजन से अपराजेय है । यह शक्ति है उसके काव्यत्व में, इसके मांसल रंगतत्व में जिसे काकटेवने `रंगमंच का काव्य कहा है । पर नाटक का यह काव्य केवल उसके कथोपकथनों में नहीं है जैसे कि पश्चिम में शेक्सपियर और हमारे यहां जयशंकर प्रसाद और टैगोर में विद्यमान है । वरन् यह काव्यात्मकता है नाटक में व्याप्त अभिनयात्मिका वृत्तिमें, पात्रों में छिपी अभिनय कला में जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमें नाटक के प्रस्तुतीकरण में होती है अथवा नाटक पढ़ते समय मन के मंच पर यदि उसे अभिनीत होते हुए देख सकें तब उसमें व्याप्त रंगमंच का काव्यानन्द हम पा सकते हैं । अत: स्पष्ट है कि जिस नाट्य कृति का मूलाधार यह अभिनयात्मिका वृत्ति होगी, वही सफल श्रेष्ठ आधुनिक रंगमंच का उदाहरण है ।[2] दूसरी ओर उन्हीं का यह कथन भी

१- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच- पृ० ४०

२- वही- पृ० १२-१३

दृष्टव्य है - अर्थ के इसी विशेषप्रयोग तथा रचना भूमि संजीवन प्रसंग को लेकर दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु सामने आते हैं । और यहीं से प्रयोग स्तर से दो प्रकार के नाटक तथानाटककार सामने आते हैं । एक ओर ऐसा नाटककार जो एक विशेष विचार अनुभूति को नाटक का शरीर देता है । उस नाटक का शरीर अथवा उसके रंगमंच का बाह्य स्वरूप चाहे जितना शिथिल,अरंगमंचीय क्यों न हो उसके रंगमंच काआन्तरिक स्वरूप विचार-अनुभूति में गठित तथा सुदृढ़ है । दूसरी ओर एक ऐसा नाटक है, नाटककार है जिसका अपना कोई खासविचार-अनुभूति नहीं है पर वह बाहरी नाट्यकला तथा रंगमंच कला का सफल ,कुशलशिल्पी है । अर्थात् एक ओर रंगमंच में कवि है, दूसरी ओर रंगमंच में एकमात्र शिल्पी-दोनों में अधिक महत्त्वपूर्ण वही कवि है । क्योंकि वह अर्थ देता है- जीवन सन्दर्भों के भीतर से ऐसा नाटकीय अर्थ जिसकी पूर्ण रचना मंच परसम्भव होती है ।[१]

उक्त दो कथनों के आधार पर लाल के सिद्धान्त में निहित विसंगति को यहां लक्ष्य किया जा सकता है । एक ओर वे नाटक के रंगमंचीय होने की अनिवार्यता की बात कहते हैं और स्वतंत्रता के पूर्व के हिन्दी नाटकों में इसके अभाव की भी बात कहते हैं । दूसरी ओर वे ही नाटक में `रंगमंच के काव्य` (जिससे नाटक में अभिनयात्मिका वृत्ति[२]का जन्म होता है) की बात कहकर उपर्युक्त स्वातंत्र्य पूर्व नाटकों के रंगमंचीय होने की सम्भावना के द्वार खोल देते हैं । रंगमंच के काव्यत्व की शर्तें इन नाटककारों में से अनेक नाटककार(भारतेन्दु और प्रसाद विशेष रूप से) पूरी करते हैं । प्रथम अध्याय में `मानसिक रंगमंच ` की विवेचना के सन्दर्भ में इसकी चर्चा हो चुकी है । जैसा कि स्वयं लाल का कथन है,

---

१- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-पृ०२६

२- नाटक के आस्वादन और सृजन के मूल में जो आधारभूत मानवीय प्रवृत्ति होती है, वह है अभिनयात्मिका वृत्ति। इसे कार्य का अनुकरणमूलक प्रत्यक्षीकरण(the mimetic perception of action) कहा जाता है। शारीरिक चेष्टाओं,मुद्राओं और गतियों के माध्यमसे आत्माभिव्यक्ति मानव की सहज वृत्ति औरअभिव्यक्ति का यह अनुकरणमूलक ढंग हीनाटक का मूलाधार है।कार्य में स्वयं को अभिव्यक्ति देना ही अभिनयात्मिका वृत्ति है।यह रंगमंच की मूल चेतना है।जैसे संगीत श्रवणेन्द्रिय पर आधारित है,उसी प्रकार अभिनयात्मिका वृत्ति दृश्यत्व पर आधारित है।इसकी स्थिति नाट्यकार,अभिनेता दर्शक तीनों में होती प्रत्येक विचार कथन से व्यक्त न होबल्कि कार्य से हो।पात्रों की भाव भंगिमा से,उनके वाह्यय आतरिकसंघर्ष सुपात्रोंकी मुद्रा,शारीरिक गति संचालन नाटकीय व्यापार की लय सम्वादों मेंही मूर्त होती है। The Idea of theatre-Furguson पृ०२३०-२५५

नाटक का कलेवर अरंगमंचीय होने पर भी नाटक में निहित विचार अनुभूति रंगमंच के आन्तरिक स्वरूप कीपहिचान होती है । ऐसी स्थिति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रसादऔर अनेक धरातलों पर समस्यावादी या बुद्धिवादी नाटककारों के नाटकों में काव्यत्व की प्रतिष्ठा करता है । प्रसाद जी के नाटकों का आनुभूतिक धरातल, भारतेन्दु के नाटकों का जीवन के सामयिक राजनीतिक, सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ा होना एवं प्रसादोत्तर नाटककारों का सांस्कृतिक स्तर पर प्रासंगिक होने का दावा एक सीमा तक उनके नाटकों में आन्तरिक दृढ़ता उत्पन्न करता है । जहां तक नाटक की बाह्य कला एवं रंगमंच-शिल्प का प्रश्न है, उसका सम्बन्ध नाटककार से बढ़कर कहीं अधिक निर्देशक से है । निर्देशक उक्त विचार-अनुभूति से सम्पन्न नाटकों को रंगमंच के शिल्प के अनुसारतराशने का पूरा अधिकारी है ।

अभिनयात्मिका वृत्ति को स्वरूप प्रदान करनेवाले तत्वों की विवेचना करते हुए फ्रान्सिस फर्ग्यूसन ने अपने ग्रन्थ the idea of theatre में उस मानवीय प्रवृत्ति की चर्चा की है जो नाटक के आस्वादन और सृजन के मूल में होती है । 'कार्य का अनुकरणमूलक प्रत्यक्षीकरण' इस मानवीय प्रवृत्ति की लाक्षणिक विशेषता है । इसस्थिति में नाटक में यदि यह अनुकरणमूलक प्रत्यक्षीकरण का गुण है तो वह नाटककार के नाट्य-व्यक्तित्व का उपयुक्त प्रमाण होती है । इस प्रवृत्ति का प्रकाशन शारिरिक चेष्टाओं, मुद्राओं और गतियों द्वारा होता है । 'पारसी हिन्दी रंगमंच' में पारसी नाटकों की समीक्षा के मुख्य मानदण्डों में लाल ने अभिनय और गतियों को भी स्थान दिया है ।[१] ये ही नाटक में कार्य का सम्पादन करते हैं । सम्वादों की अतिनाटकीयता और तुकान्तता एवं उससे पात्रों के भावोद्रेक का प्राकट्य इन नाटकों में उक्त अभिनयात्मिका वृत्ति और उससे उत्पन्न रंगमंच के काव्यत्व के दर्शन किये जा सकते हैं ।

१- देखिये- सातवांऔर आठवां अध्याय-पारसीहिन्दी रंगमंच-डा॰ लाल ।

कार्य की अभिव्यक्ति का मुख्य आधार है गति और नाटक में अनुस्यूत संघर्ष इस गति का हेतु कहा जा सकता है । जिस नाटक में कम या अधिक रूप से यह तत्व समाहित है, वह नाटकरंगमंच पर एक लय और प्रवाह उत्पन्न करने में सक्षम सिद्ध हो सकता है । ब्रेण्डर मैथ्यूज नाटक में इस शक्ति के समावेश को 'ईहा' (Volition) के रूप में देखते हुए लिखता है- 'यदि हम त्रासदी और अतिरंजित नाटक, कामदी और प्रहसन आदि विभिन्न नाट्य रूपों में से एक-एक नाटक को लें तो हम देखेंगे कि उन सबका आरम्भ एक ही बिन्दु से होता है । कोई एक केन्द्रीय पात्रकिसी पात्र की इच्छा करता है और यही इच्छा कार्य- व्यापार की प्रेरक शक्ति होती है । आधुनिक अथवा प्राचीन हर एक सफल नाटकमें हम विरोधी इच्छाओं का संघर्ष किसी न किसी प्रकार के कठिन विरोध के समक्ष मानव ईहा का प्रयत्न पायेंगे ।[१] भारतेन्दु, प्रसाद, अन्य प्रसादोत्तर नाटककारों एवं पारसी मंच के नाटककारों में किसी न किसी रूप में केन्द्रीय पात्र अथवा अन्य एकाधिक पात्रों के मध्य विरोधी इच्छाओं का यह द्वन्द्व देखने में आता है । इन्हीं के मध्य से नाटक आगे बढता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'सत्यहरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र के मध्य सत्य की परीक्षा का सूत्र जोडकर नाटक में राजाहरिश्चन्द्र के आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व को प्रकट किया है । 'सत्यमेव जयते' के आदर्श का निर्वाह हरिश्चन्द्र द्वारा आदि से अन्त तक करा नाटक की ईहा को प्रकट किया गयाहै । इन्हीं का एक अन्य नाटक है 'भारत जननी' जिसमें नाटककार द्वारा उस इच्छा शक्ति को सूत्रधार के शब्दों में देखा जा सकता है जोनाटक में प्रच्छन्न द्वन्द्व का मूल कारण है- 'भारत भूमि और भारत सन्तान की दुर्दशा दिखानाही इति भारत जननी की इतिकर्तव्यता है ।और आज जोयह आर्यवंश का समाज यह खेल खेल देखने को प्रस्तुत है उनमें से एक मनुष्य भी यदि इस भारतभूमि को सुधारने में एकदिन भी यत्न करे तो हमाराप्रयत्न सफल है । प्रसाद जी के नाटकों 'स्कन्दगुप्त',

---

१- नाटक साहित्य का अध्ययन-ब्रेण्डर मैथ्यूज-अनु० इन्दुजा अवस्थी-पृ० ५४

'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'ध्रुवस्वामिनी' इत्यादि में इच्छाशक्ति के द्वन्द्व को चरित्र के अन्दर एवं बाह्य परिस्थितियां और चरित्रों के साथ देखा जा सकता है। 'स्कन्दगुप्त' में राज्यशक्ति के षडयंत्रों में नायक द्वारा कर्तव्यविमुख होने की इच्छा किन्तु विरोधी शक्तियों द्वारा किये जा रहे अनधिकार सत्ता प्रयत्नों के प्रतिकार हेतु स्कन्दगुप्त का कर्तव्योन्मुख होना संघर्ष के धरातल पर मानवीय ईहा का ही एक प्रयत्न कहा जायेगा। 'चन्द्रगुप्त' का कथानक मौर्ययुग की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के सन्दर्भ में बहुमुखी द्वन्द्व का निर्माण करता है। एक ओर मगध के चन्द्रगुप्त और गान्धार नरेश आम्भीक के मध्य राजनीतिक द्वन्द्व, शकटार और राक्षस के मध्य सुवासिनी को लेकर द्वन्द्व, चाणक्य और राक्षस के मध्य कूटनीतिक द्वन्द्व और दूसरी ओर उक्त व्यक्तिपरक ईहाओं से बढ़कर चन्द्रगुप्त और सिकन्दर के मध्य विजातीय संस्कृतियों का व्यापक द्वन्द्व मूलत: मानवीय ईहा के प्रयत्नहेतु ही है। 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी का सहज आकर्षण किन्तु पति रामगुप्त के रहने उसका सामाजिक औचित्यानौचित्य के मध्य आन्तरिक रूप से संघर्षरत रहना 'ईहा' की अभिव्यक्ति है। प्रसादोत्तर नाटककारों में यह 'ईहा' किसी न किसी सीमा तक नाटक में उस लय का संचार करती है जो नाटकके कथ्य को आदि से अन्त तक एक प्रवाह में बांधे रखता है। स्वातंत्र्यपूर्व प्रसादोत्तर नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास और हरिकृष्ण प्रेमी इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहे जासकते हैं। मिश्र जी कृत 'राक्षस का मन्दिर' में मुनीश्वर का पत्नी का त्यागकर एक वेश्याअसगरी के साथ रहने लगना दोनारियों के मध्य मुनीश्वर को अपनाने की आन्तरिक इच्छा द्वन्द्व खड़ा करता है। सम्पूर्ण नाटक में नारी सम्बंधी जो वैवाहिक समस्याएंसमक्ष आती हैं उनसे उत्पन्न नाटक के द्वन्द्व में नाटककार की वह ईहा छिपी हुई है जो उसे वेश्या और पत्नी के अधिकारों की चर्चा करने को प्रेरित करती है। 'मुक्ति का रहस्य' में उमाशंकर के वैवाहिक जीवन में आशा क एक नवीन आकर्षण लिये आती है। लेकिन उमाशंकर से प्रेम करने के उपरान्त वह विवाह डाक्टर से करती है। यहां भी आशा का दो पुरुषों के प्रतिप्रेम दो विभिन्न धरातलों पर उसकी इच्छाओंमें व्यवधान

उत्पन्न करता है, फलत: द्वन्द्व उत्पन्न होता है । सेठ गोविन्ददास के ऐतिहासिक नाटकों यथा-`हर्ष `,`शशिगुप्त`,`कुलीनता` एवं `अशोक ` में नाटककार उसके माध्यम से ऐतिहासिक चरित्रों की उस मानवीय ईहा के दर्शन होते हैं जो राष्ट्रीय गौरव और उसकी रक्षा के रूप में प्रकट होती है । `हर्ष ` में सातवीं शताब्दी के भारत के वातावरण के मध्य हर्षवर्द्धन की जीवनी को उसके विभिन्न उतार चढावों के मध्य से उभारा गया है । `शशिगुप्त` और `अशोक` ऐतिहासिकचरित्रों को मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व के मध्य से उभारने वाले नाटक हैं । इन सभीनाटकों में बौद्ध दर्शन की स्थापना नाटककार का अभीष्ट है और इसी का प्रयत्न ये ऐतिहासिकचरित्र करते हैं । हरिकृष्ण प्रेमी केनाटकों मेंइच्छाशक्ति का विपरीत द्वन्द्व अधिक प्रभावशाली है क्योंकि वे दो विरोधी संस्कृतियों के मध्य संघर्ष और समन्वय के उद्देश्य के साथ गुजरते हैं । इन नाटकों में मानवीय ईहा साम्प्रदायिक सौमनस्य के धरातल पर खड़ी हुई है और समस्त द्वन्द्व इसी उद्देश्य को समक्ष रखकर क्रियान्वित होते हैं । `रक्षा बन्धन` में कर्मवती और हुमायू का रक्षाबन्धन के सूत्रों में आबद्ध होना `आहुति` में राणा हमीर तथा मीर माहिमशाह का परस्पर त्याग,`शिवा साधना` में शिवाजी और औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा का प्रेम,`स्वप्नभंग` में दाराशिकोह-द्वारा हिन्दू- मुस्लिम एकता का स्वप्न आदि इन नाटकों में छिपे सांस्कृतिक ऐक्य का ही प्रदर्शन है ।

भारतेन्दु,प्रसाद और स्वतंत्रता के पूर्व प्रसादोत्तर नाटककारों के सन्दर्भ में कार्य की अभिव्यक्ति करनेवाले रंगमंचीय तत्व `ईहा` को लक्ष्य करने के उपरान्त कहा जा सकता है ~~कि~~- कि इन नाटकों में भी द्वन्द्व और उससे उत्पन्नलय व प्रवाह इस तथ्य का परिचायक है कि ये नाटकअभिनयात्मिका वृत्ति की सीमा का स्पर्श करते हैं । नाटक के रंगमंचीय होने की अनिवार्यता और स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी नाटकों में इसके अभाव की बात कहने के बाद जब वे नाटक में रंग-काव्यत्व या अभिनयात्मिका वृत्ति की बात करते हैं तो प्रत्यक्ष रूप से मंच से न जुड़े होने पर भी परोक्षत:

मंचीय संभावनाओं के द्वार येनाटक खोल देते हैं । स्वतंत्रता के पूर्व केनाटककारों के नाटकों में किसी न किसी रूप में छिपी उपर्युक्त शक्ति को न पहिचान पाना ही वस्तुत: उनके सम्बंध में एक अतिवादी पूर्वाग्रह बना लेने का प्रधान कारण था । लाल ने नाटक में निहितलय और रंग काव्य को उसकी सम सम्पूर्णता में देखने का प्रयास किया । स्वतंत्रता के पूर्व के नाटकों को इस कसौटी पर परखने की दृष्टि का अभाव ही इन नाटकों की सही अभिव्यक्ति का संकट था, इन नाटकों का वह यथार्थवाद और बौद्धिक बोझिलता नहीं - डा॰ दयाशंकर शुक्ल ने लौह-कवच की अतिशयोक्तिपूर्ण संज्ञा दी है- "वस्तुत: लाल से पूर्व के नाटक यथार्थवाद और बौद्धिक बोझिलता का ऐसालौह कवच चढ़ाये थे जिसे तोड़कर देखने का म्र साहस किसी ने नहीं किया । यह कवच ही वस्तुत: अभिव्यक्ति का संकट था ।[१]

नाटक और रंगमंच की परस्परता का ही एक तथ्य है नाटककार, दर्शक और प्रस्तुतीकरण के दो महत्वपूर्ण पक्ष निर्देशक व अभिनेता की सामूहिकता । इस प्रकार नाटक एक त्रिआयामीय कला(three dimensional art) कही जा सकती है । हिन्दीनाटक में यह त्रिआयामीयता का अभाव विगत अनेक दशकों से अनुभव कियाजाता रहा । इसका कारण नाटककार, निर्देशक, दर्शक और इनके साथ-साथ नाट्य समालोचक का पारस्परिक बिखरावपूर्ण रवैयाकहा जा सकता है। यह बिखराव क्यों है- इस सम्बंध मेंलाल ने अपने ग्रन्थों में विशेष कारणों का उल्लेख नहीं किया है, मात्र इसके कि नाटककार का बौद्धिक चिन्तन पश्चिमीकृत है जिसका प्रभाव यह पड़ा कि वह यहां के रंगमंच को छोड़कर बहुत आगे तक बढ़ गया है और यह कि हमारे यहांअध्ययन के स्तर परनाटक को रंगमंच की व्यावहारिक तकनीकों से जोड़ा ही नहीं गया जिसके कारण हमारे यहां कुशल निर्देशक और कुशल नाट्य-समालोचकों का अभाव रहा ।

१- रचना और सृजनकी पृष्ठभूमि-लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच-
डा॰ दयाशंकर शुक्ल- पृ॰ १६

वस्तुत: नाटककार, निर्देशक और दर्शक जो क्रमश: कृतित्व, प्रस्तुती और आस्वादन से सम्बद्ध हैं, स्वतंत्र कलाओं के सर्जक नहीं हैं प्रत्युत एक ही कला के अंग हैं। ऐसीस्थिति में ये अंग अपने स्वतंत्र अस्तित्व को लेकर रह ही नहीं सकते। जैसा कि कहा जाता है -कलाकृति एक ऐसी रचना है जो मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त करती है। यहअभिव्यक्ति मानव की सर्जनात्मक प्रवृत्ति है तो यहां मानवीय भावनाओं से तात्पर्य मनुष्य कीउन विविध रूचियों से है जिनकी मानसिक स्तर पर वह कल्पना करता है और नैसर्गिक रूप से वे रुचियां किसी माध्यम से अभिव्यंजित हो उठती हैं। नाटक के लेखन के पीछे नाटककार की रुचि ही है जिसका रूपायन शब्दों के माध्यमसे होता है। निर्देशक या अभिनेता द्वारा प्रस्तुतीकरण -कर्म उनकी वह रुचि ही है जो चतुर्विध अभिनय के रूप मेंप्रकट होती है- यहां निर्देशक और अभिनेता की रुचियों में अन्तर इतना ही है कि एक मार्ग-दर्शन की ओर झुकी है और दूसरी उसके ग्रहण की ओर। दर्शक रसज्ञ है और उसकी रुचि रस का आस्वादन करना है। यह आस्वादन वह इन्द्रियों (आंखों) के माध्यम से करता है। ये ही विविध घटक जब एक सामूहिक बोध के साथ समक्ष आते हैं तो विविध रुचियों, इच्छाओं या भावनाओं के समवाय नाट्यकला के रूप में पहिचाने जाते हैं। यहां तथ्य यह है कि ~~उक्त~~ नाट्य कला एकाधिक रुचियों का मेल होने पर भी एक वचन की संज्ञा है। जैसे अंग सम्पूर्ण शरीर नहीं हो सकता वैसे उक्त त्रिआयाम स्वतंत्रत: 'कला' नाम नहीं प्राप्त कर ~~सके~~सकते। नाटककार, निर्देशक और दर्शक के बिलगाव और अपने अहं में डूबने का कारण यही है कि उन्होंने अपने-अपने कर्म को सम्पूर्ण इकाई मानकर उसे कला का स्तर दे दिया जबकि सत्य यह है कि वे मनुष्य की एक रुचि या भावना (भावनाओं नहीं) का प्रकाशन मात्र है। बिना उनके सम्मिलन के सर्जनात्मक कला (जो सम्पूर्ण इकाई है) की कल्पना करना असम्भव है।

अपने तीनों प्रतिनिधि ग्रन्थों में लाल ने नाट्य कला की त्रिआयामीयता को अपने नाट्य समालोचन का आधार बनाया है। 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' में संस्कृतऔर पाश्चात्य रंगमंच के विवेचन के सन्दर्भ में कृतित्व, प्रस्तुतीकरण, दर्शक व रंगशाला के शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया नाट्य-कला का आकलन नाट्य-समालोचन

में इसी त्रिआयामीयता के समावेश का घोतक है । `आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच ` की तो यही दृष्टि है जिसके कारण सम्पूर्ण स्वातंत्र्य पूर्व हिन्दी नाटक-साहित्य में उक्त त्रिआयामीयता के अभाव पर खेद व्यक्त किया गया है- `रंगमंच पक्ष से इतना उदास, कटा हुआ और जैसे पराजित इस हिन्दी नाट्य-कला ने अपनी रंग प्रतिक्रिया केवल नाट्य लेखन तक ही सीमित रखी और उसमेंपूरे राष्ट्रीय चरित्रको, काल कीपूरीसामाजिक चेतनाको, उहापोह, उमंग, आशा-निराशा तथाविद्रोह बोध को भावुक अभिव्यक्ति दे देनी चाही ।[1]

\+ \+ \+

`भारतवर्ष में विशेषकर हिन्दी क्षेत्र में इस दर्शन के ठीक विपरीत घटना घटी थी । नाटककार ने कहा-`रंगमंच के सम्बंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जाय । प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिये रंगमंच हो । और ठीक इसके विपरीत उस काल के पारसी रंगमंच के प्रस्तुतकर्ता ने कहा,`म हम यहां इससे (रंगमंचसे) रूपया कमाने आये हैं, कुछ साहित्य-भण्डार भरने नहीं । कैसी तीव्र प्रतिक्रिया थी एक दूसरे के दृष्टिकोण में । कैसीविकटउपेक्षा थी एक दूसरे से । न नाटककार तैयार था अपने काल के रंगमंच में आने को, न प्रस्तुतकर्ता तैयार था नाटककार के साथ जाने को, इसलिये दोनों अधूरे अपूर्ण रहे । इस अहंकार का भयानक कुप्रभाव हमारे रंगमंच पर पड़ा । हमारे देश का आधुनिक रंगमंच इस तरह अपने इस निर्माण और उदयकाल मेंहीअपूर्ण रह गया ।[2] `पारसी हिन्दी रंगमंच ` ग्रन्थ मेंपारसीनाटकों की समालोचना का तो आधार हीकृतित्व,प्रस्तुतीकरण एवं आस्वादन का पक्ष रहा है । ग्रन्थ के पांचवें,छठें, सातवें और आठवें अध्याय की यही समालोचना दृष्टि रही है ।

१- आधुनिक हिन्दीनाटक और रंगमंच- पृ० ६८

२- वही-पृ० १५-१६

डा॰ लाल के नाट्यसिद्धान्त विषयक ग्रन्थों में नाट्य-समीक्षा के मानदण्डों का जो स्वरूप उभरकर समक्ष आया है, उसमेंपूर्व परंपराओं को आत्मसात कर लिया गया प्रतीत होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग में समालोचना का स्वरूप गुण-दोष विवेचन की स्थूल सीमाओं से आगे नहीं बढ पाया था। विशेषकर नाट्य-समीक्षा का तो रूप ही अब तक स्थिर नहीं हो पाया था। हिन्दी नाट्य लेखन के इस उत्थान काल में जब नाटक ही अपनी दिशा निर्धारित करने में लगा हुआ था तो नाट्य-समीक्षा के प्रति रुचि तो अभी बहुत दूर की बात थी। इस युग में भारतेन्दु द्वारा लिखित ग्रन्थ 'नाटक' पाम्परिक दृष्टि से संस्कृत नाटक का विवेचन करने में सक्षम भले ही रहा हो, नाट्य सिद्धान्तों की वैज्ञानिक समीक्षा दृष्टि का वहां अभाव ही है।

नाट्य-समीक्षा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि का प्रतिपादन मिलता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की नाट्य समीक्षा में। द्विवेदी जी मर्यादावादी साहित्यकार व समीक्षक थे- फलत: नाटकों के प्रति उनका चिन्तन केवल मनोरंजन की सीमा तक ही नहीं फैला था प्रत्युत स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा और मूल्य प्रतिपादन की दृष्टि भीसाथ लिये चलता था। अवश्य ही उक्त मूल्यवत्ता के प्रति वे किसी प्रकार की लक्ष्मण रेखा स्वीकार नहीं करते थे क्योंकि वे मानते थे कि मूल्यों का परिवर्तन अन्तत: देशकाल एवं वातावरण सापेक्ष होता है। इसी कारण उनकी नाट्य-समीक्षा उपदेशात्मकता और नाट्य-नियमों पर आधारित होने पर भी इतनी लचीली अवश्य रही कि उसमें अन्यान्य नाट्य परंपराओं प्रभावों को भी स्थान प्राप्त हो सका। द्विवेदी जी की इस मर्यादावादी दृष्टि एवं देशकाल सापेक्षता को लाल जैम में एक पारम्परिक प्रभाव के रूप में लक्ष्य किया जा सकता है- 'रचना के स्तर से नाटक को सोचते ही यथार्थवाद का वह स्वरूप सामने आता है जिसे देखकर अनुभव करने के लिये दर्शक रंगशाला में जाता है। यही विशेष अनुभव सत्य हर युग के नाटक को एक दूसरे से विशिष्ट बनाता है।[1] यहां तात्पर्य यही है कि हर युग का नाटक अपने दर्शकों को एक नया

१- देखिये- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच (डा०लक्ष्मीनारायणलाल)

अनुभव प्रदान करता है। वह उसे नवीन अनुभवों से जोड़कर नये युग-यथार्थ को ग्रहण और अनुभूत करने के लिये अपने दर्शकों को मानसिक रूप से तैयार करता है। अर्थात् दर्शकों की युगगत मानसिकता और नाटककार की मूल्य-प्रतिष्ठा परस्पर अन्योन्य रूप से प्रकट होती है। मूल्य की प्रतिष्ठा की दिशा केवल नाट्य-लेखन स्तर पर हो, यही आवश्यक नहीं। वह शिल्पस्तर पर भी हो सकती है। नाटककार के नये नाट्य-शिल्पगत अनुभव जिन्हें वह अपनी और इतर रंग परम्परा के अध्ययन और प्रेक्षण से प्राप्त करता है - हर युग के नाटक को पूर्व युग के नाटकों से विशिष्ट बनाते हैं। द्विवेदी जी की उपदेशात्मकता यहां मूल्यों और यथार्थ की स्थापना के रूप में देखी जा सकती है और नाटक के देशकाल या वातावरण सापेक्षता के सत्य को परिवर्तनशील दर्शक रुचि और मूल्य-प्रतिष्ठा की अन्योन्यता के रूप में लक्ष्य किया जा सकता है। युग विशेष यदि किसी मूल्यगत अर्थवत्ता से विहीन भी है तो भी नाटक अपने विशेष युगकाल की अर्थहीनता को फेलता हुआ उसके मूल्यवान अर्थ को प्राप्त करता है। नाटक की अर्थहीनता में से भी मूल्यवान अर्थ को कैसे खोजा जा सकता है- लाल के इस तथ्य को बादल सरकार के नाटक 'एवम् इन्द्रजीत' की इस समीक्षा दृष्टि से पकड़ा जा सकता है - 'इस अर्थहीन जीवन की अर्थहीनता को भुलाकर और इसे पहिचानते हुए भी अपने आपको धोखा देकर कोई रह कैसे सकता है भला ? तो क्या करे वह ? मर जाय, आत्महत्या कर ले ? जैसा कि इन्द्रजित सोचने लगा था। या इस आशा में अपने को धोखा दे कि अभी तो सूरज उगेगा। पर सोचनेवाले संवेदनशील व्यक्ति के जीवन से आशा तो आज खत्म हो चुकी है। चांद और सूरज तो कोई पहेली नहीं रहे। न स्वर्ग रहा, न नरक। जमीन के अन्दर, पाताल के नीचे तो पाताल है और उसके नीचे फिर जमीन जमीन। ----- क्या लेकर जिए ऐसा व्यक्ति- जो कि आज का आदमी है- अणुबम की अनुपम भेंट? तो क्या करे वह मर जाय ? फिर मरने से भी क्या ? यदि न मरने से कुछ है न जीने से तो जीओ ही क्यों न ? शायद--------'[1] नाटक में प्रच्छन्न यह अर्थ या मूल्यहीनता ही एक सर्वथामूल्यवान अर्थ की प्रतिष्ठा करती है जिसे आचार्य ह० प्र० द्विवेदी ने 'नाटक में निहित उपदेशात्मकता के' रूप में देखा है - बादल सरकार ने इसी मूल्य विहीनता में से मूल्य की खोज की है।' पर मेरी प्रयत्न करने की। शक्ति आज तो क्लान्त हुई है।

१- एवम् इन्द्रजित -निर्देशक का वक्तव्य-श्यामानन्द जालान-
आज के रंगनाटक- पृ० १७२-१७३

मृत्यु तीर पर । जीवन की आशा में बैठी ।सतत परीक्षा क्लान्त हुई है । जाओ अपने प्रश्न साथ ले ।तर्क विवेक सभी ले जाओ ।सोने दो मुझको। छाया के घोर गम्भीर लोक में। मुझको सोने दो---- मैं बहुत क्लान्त हूं ।[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल समालोचक के रूप में हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठा-पूर्ण स्थान के साथ पहिचाने जाते हैं । काव्य के क्षेत्र में उनकी समीक्षा दृष्टि विशेष क मुखर हैं जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है उनका बृहत इतिहास एवं समीक्षापरक ग्रन्थ `हिन्दी साहित्य का इतिहास`। काव्य समीक्षा के प्रति उनका रुझान विशेष [redacted] रहा । परिणाम स्वरूप इतर विधाओं में भी उनका वही काव्य समीक्षक रूप देखने में आता है। इस तथ्य की ओर दृष्टि देते हुए डा० मान्धाता ओझा ने भी लिखा है- `शुक्ल जी ने काव्यालोचन में काव्यभाषा, शब्दशक्ति, अलंकार, बिम्ब विधान आदि का जितना सूक्ष्म विचार किया है, उतनी गहराई से नाटक के अभिव्यंजना कौशल में लक्षित रंग-विधानगत सौष्ठव-दृश्यबन्ध रंगसज्जा आदि को समाकलित करने का अवसर उन्हें नहीं मिला, उनके समय में रंगमंच का नितान्त अभाव हो गया था । फलत: वे नाटक के शब्दबद्ध आकार को लक्ष्य करके ही नाट्य विषय का विचार करने की ओर अग्रसर हुए । ऐसी दिशा में नाटक की आलोचना पद्धति की काव्य की आलोचना पद्धति से बहुत भिन्नता नहीं हो सकती थी ।[२]

[redacted] आचार्य शुक्ल द्वारानाटक की आलोचना में काव्यगत प्रतिमान अपनाने सम्बंधी कालान्तर में दो धाराओं के रूप में समक्ष आती हैं । एकधारा वह है जो आचार्य शुक्ल की काव्यात्मक अनुदृष्टि की प्रतिक्रिया में यथार्थवादी प्रतिमानों को लेकर चली- फलत: उसने यथार्थवादी, समस्यापरक एवं बुद्धिवादी नाटकों को जन्म दिया । दूसरी धारा वह है जिसने शुक्ल जी की काव्यात्मक दृष्टि को ही आगे बढ़ाया ।

१- एवम् इंद्रजित-निर्देशक का वक्तव्य-श्यामानन्द जालान-आज के रंगमंच- पृ० १२७

२- हिन्दी नाट्य समालोचनथ पृ० ५८

यह धारा जयशंकर प्रसाद द्वारा आगे बढ़ी जिसने नाटक में काव्यात्मक अनुभूतियों के द्वार खोले। यह एक अनु आश्चर्यजनक तथ्य हो सकता है कि लाल इसी दूसरी धारा को आगे बढाते हैं और मोहन राकेश जैसे नाटककार ने भी इसी धारा को आगे बढाया। अवश्य ही समीक्षा की काव्यात्मक अनुदृष्टि के सम्बंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद एवं लाल के मध्य एक मूलभूत अन्तर है। लाल नाटक में काव्यात्मकता के अर्थ को भाषा और कथोपकथन तक ही नहीं, और भी आगे दृश्यत्व एवं अभिनयात्मिका वृत्ति से उत्पन्न काव्य तक विस्तार करते हैं। किन्तु इस चिन्तन-प्रक्रिया तक बढने की सीढ़ी वही काव्यात्मकता है जिसे शुक्ल जी और प्रसाद जी ने माना है। इसीलिये लाल के प्रारम्भिक नाटकों व एकांकियों- `ताजमहल के आंसू `, `पर्वत के पीछे `, `सूखा सरोवर` में भाषा की काव्यात्मकता दृश्यत्व बोध की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावी होती प्रतीत होती है। पिछले पृष्ठ पृष्ठों में इन नाटकों में रोमानीपन की जो बात कही गयी है वह इसी भाषागत काव्यात्मकता के कारण है। इसी तथ्य को `सूखा सरोवर` की भूमिका में भी प्रकट किया गया है ---- और मर्म की बात तो यह थी कि उस जीवन-चित्र को भीतर से बाहर लाने के लिये मेरे पास कोई सम्पूर्ण माध्यम नहीं था। नाटक का एक माध्यम मेरे हाथ था अवश्य पर उसका वह वाहन मेरे पास न था जिसे कविता कहते हैं। उस पवित्र वाहन के बिना, गीत के उडन खटोले, चन्दन की सेज बिना, वह मानस लोक का इन्द्रजालिक चित्र नीचे उतरता ही न था।[1] निश्चय ही यहां काव्यत्व- उसमें छिपे बिम्ब, प्रतीक आदि- भाषा के माध्यम से ही प्रकट हुए हैं। मानस के ऐन्द्रजालिक चित्र की अभिव्यक्ति के लिये यहां भाषा का काव्य ही माध्यम है। इस समय लाल के नाट्य-सृजन का अभी प्रारम्भ ही था, अतएव उसकी पहली सीढी भाषा का काव्य ही थी। लाल ने यथार्थ को कवि के धरातल से उसी प्रकार ग्रहण किया जैसे प्रसाद जी ने। परन्तु लाल ने कालान्तर में यथार्थ की पकड़ हेतु काव्यगत प्रतिमान में अभिव्यंजना कौशल(`दृश्यत्व` या `कार्य ` के रूप में) का समावेश करके नाट्य- समीक्षा में रंगमंच के मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

१- सूखा सरोवर- उपक्रम- पृ० ५-६

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यावहारिक नाट्य समालोचन को लाल ने भी ग्रहण किया है। स्वातंत्र्य पूर्व प्रसादोत्तर नाटककारों के नाट्य की समीक्षा करते हुए उन्होंने इन नाटकों की प्रकृति को सोदाहरण सिद्ध किया है। ~~उदाहरण~~-- उदाहरण के लिये- `-----इस तथ्य की पहिचान इन नाटकों के अंक विधान और दृश्य योजना से होती है। चाहे सांस्कृतिक ऐतिहासिक नाटक हों, चाहे सामाजिक, अंक अथवा दृश्य विधान बिल्कुल कथा साहित्य सा (पाठ्य) होता है। शुद्ध पाठक को ध्यान में रखकर दृश्य यहां लिखे गये हैं। वर्णित एवं कथित हैं - रंगमंच को ध्यान में रखकर नहीं।[1] - इसके पश्चात अपने कथन की प्रामाणिकता के लिये लाल ने `मुक्ति का रहस्य` से तत्सम्बंधी उदाहरण दिये हैं - व्यावहारिक नाट्य समालोचन के ऐसे अनेक उदाहरणयहां देखे जासकते हैं। `पारसी हिन्दी रंगमंच ` व्यावहारिक नाट्य-समालोचन को ही समक्ष रखता है। क्योंकि यहां पारसी नाटकों के सामान्य सिद्धान्तों को उस युग के विभिन्न नाटकों के विशिष्ट अंशों द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस दृष्टि से ग्रन्थ का पांचवा अध्याय `नाटक का रचना विधान`, सातवां अध्याय `अभिनय` एवं आठवां अध्याय `संगीत और नृत्य परम्परा और प्रकृति` महत्वपूर्ण हैं। `रंगमंच और नाटक की भूमिका ` में व्यावहारिक नाट्य-समालोचना का अभाव खटकता है। संस्कृत और पाश्चात्य रंगमंच की चर्चा करते समयतत्कालीन नाटकों की कसौटी पर नाट्य सिद्धान्तों को कतिपय विस्तार से कसा जाता तो ग्रन्थ का विशेष महत्व होता।

लाल की नाट्य समीक्षा पूर्व परम्पराओं को आत्मसात किये हुए हैं, फलतः वह मौलिक है क्योंकि उसमें हिन्दी नाटक व रंगमंच के निजी ढांचे की खोज का प्रश्न विशेषरूप से उभरकर सामने आया है। इस निजी ढांचे की खोज के सम्बंध में लिखते भी हैं - `अपने निजी जीवन सन्दर्भों की खोज ही हर युगकाल के नाटक को

१- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-पृ० ५५

को एक दूसरे से अप्रतिम और यही तत्व उसे मौलिक बनाता है । इसी मौलिकता में रंगशिल्प की मौलिकता सहज ही फूट निकलती है । मौलिक प्रयोग में बाहर के वे सारे रंगतत्व यदि अनिवार्यत: आते हैं तो वे बाहर के होते हुए भी अपने हो जाते हैं । जैसे ब्रेख्त के रंगमंच में पूरब के इतने सारे रंगतत्व और नाट्य विधान उसके अपने निजी होकर आये हैं ।[१] इसी निजी ढांचे की खोज में लाल न तो अनुदारतावादी रहे हैं और न ही प्रभाववादी । समन्वय की दृष्टि उनमें मुख्य रही है ।

लाल की नाट्य-समीक्षा में पाश्चात्य सन्दर्भों के ग्रहण का प्रश्न एक अन्य महत्वपूर्ण विषय है । हिन्दी रंगमंच और नाटक के विकास में इस तथ्य को दो प्रकार से लक्ष्य किया जा सकता है - एक ओर उन्होंने पश्चिम के सीमित यथार्थवादी रंगमंच की उस असीम शक्ति की चर्चा की है जिसके कारण इब्सन और चेखव के नाटक `डाल्स -हाउस` ,`घोस्ट` और `सीगल` में यथार्थवादी फार्म के साथ-साथ `आन्तरिक रंगमंच की अन्विति में निश्चय ही कहीं काल्पनिक रंगतत्वों तथा काव्यमयी वृत्तियों` का समावेश हुआ है । इसे वे अभिनयात्मिका वृत्ति और रंगमंच के काव्यत्व के रूप में देखते हैं और उसे `इतिहास की अपेक्षा दर्शन` की संज्ञा देते हैं । इस सन्दर्भ में दूसरी ओर वे भारतीय रंगमंच पर इब्सन और चेखव के यथार्थवाद के प्रभाव की चर्चा करते हैं किन्तु उस ग्रहण किये गये प्रभाव की अपूर्णता की भी बात करते हैं - `दुर्भाग्य से भारतीय आधुनिक रंगमंच में अभी गतदो ढाई दशकों सेपूर्व प्राय: जितनी नाट्य-कृतियां लिखी गयीं, उनमें इसी कल्पना तत्व, दर्शन तत्व और मुख्यत: अभिनयात्मिका वृत्ति का अभाव था । उन पर इब्सन,चेखव और शा कैउन यथार्थवादी नाटकों की छाप थी जिनमें दर्शन के स्थान पर इतिहास था , काव्यात्मक यथार्थ के स्थान पर तर्क संगत यथार्थ था , कल्पना के स्थान पर जहां केवल वाद-विवाद था ।[२] स्वातंत्र्यपूर्व नाटक

१- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-पृ० ३४-३५

२- वही- पृ० १३

में पश्चिम के उक्त सतही प्रभाव की चर्चा के साथ लाल यह भी स्पष्ट करतेचलते हैं कि 'घोस्ट', 'सीगल' आदि कुछ नाटकों के अतिरिक्त इब्सन एवं चेखव के अन्यनाटक यथार्थवादी मंच की 'मूड' और 'तर्क' पर आधारित रंग दृष्टि को लेकर चलते हैं। पश्चिम के इस शुष्क भाव बोध वाले रंगमंच के विरुद्ध पिरैंडेलो, टी० एस० इलियट, ब्रेख्त इत्यादि ने अयथार्थवादी रंगमंच का आन्दोलन छेड़ा। हमारे यहां के रंगमंच आन्दोलन में यह स्थिति स्वतंत्रता के बाद आयी जबजगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहन राकेश और लाल ने काव्यात्मक रंगमंच की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए अपने नाटकों की रचना की। यहां द्रष्टव्य है कि यथार्थ से अयथार्थ रंगमंच की ओर बढने की जो प्रक्रिया पश्चिम में रही है वही हमारे यहां के रंगमंच में भी रही है। लाल ने इसे अपनी नाट्य समीक्षा में एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। यहीं इस तथ्य का प्रतिपादनभी आवश्यक है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों ने अयथार्थवादी रंगमंच का जो प्रभाव पश्चिम के ब्रेख्त से लिया, वह वस्तुत: ब्रेख्त की पूर्णत: मौलिक अवधारणा नहीं है ब्रेख्त नेइसे पूर्व की ही संस्कृत आदि रंग परम्परा से ग्रहण करप्रस्तुत किया था। 'पूर्वी नाट्य परम्पराओं का उस पर गहरा प्रभाव था। अपने नाटकों में उसने गीत, मूक अभिनय, शैलीबद्ध सम्वाद और मुखौटों का प्रयोग किया और पश्चिम के घोर यथार्थवाद में इन शैलियों को रचाकर अपना महानाट्य प्रस्तुत किया।[१] जो भी हो, पश्चिम के अयथार्थवादी रंगमंच के हमारे यहां के स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच पर पड़े प्रभाव को हमें यथारूप ग्रहण न कर अपनी संस्कृति और परम्परा के सन्दर्भ में ग्रहण करना होगा। नाट्य-शिल्प और रंगविधान को पश्चिम के आधुनिक रंगमंच से ग्रहण किया जा सकता है किन्तु उसे ढालना है अपनी भूमि, अपनी सांस्कृतिकता और अपने- अपने दर्शकों के मध्य। लाल ने इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षण भीकिया है-'नाटक का सीधा सम्बंध हमें अपने समाज और जीवन से जोड़ना होगा। जन-समुदाय को अपने रंगमंच से जोडने के लिये नाटककार को स्वत: भाव उन्हीं के रंगमंच में उतरना होगा। इसदिशा में अतुल शक्ति बिखरी है लोक रंगमंच की जिसकी परस्परता सदैव अबाध और सुदृढ़ है।[२]

१- रंगमंच-बलवंत गार्गी-पृ० २५७

२- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-पृ० १४

उक्त सन्दर्भ में ही लाल ने पश्चिम में नाटकऔर रंगमंच कीपारस्परिक अन्योन्यता पर एक दृष्टि देकर उस सन्दर्भमें हमारे यहां के रंगान्दोलन में इस परस्परता की शिथिलता पर विचार किया है । साथ ही पश्चिम के नाटक और रंगमंच के समन्वित विकास की तुलना में हमारे यहां दोनोंपक्षों के अलग-अलग खिचड़ी पकाते रहने की नियति का विवेचन भी किया गया है । पश्चिम की तुलना में भारतवर्ष की उक्त स्थिति यहां नाटककार एवं निर्देशक के अपने-अपने अहं में ग्रस्त होने के कारण थी । दोनों के विलगाव से हमारे संस्कृत युग की रंगमंच-परम्परा तो पनप ही न सकी, पारसी रंग परम्परा (जो किसी प्रकार एक रंग-मानसिकता को बनाये रखने का प्रयत्न कर रही थी) भी बुद्धिजीवी और प्रबुद्ध नाटककारों व निर्देशकों की दृष्टि में सम्मान नहीं प्राप्त कर सकी। यदि प्रारंभ में ही ऐसा होता तो पारसी रंगमंच को हिन्दी रंगमंच परम्परा में स्थान देने के सम्बंध में विवाद नहीं उठता । पाश्चात्य सन्दर्भ में लाल ने नाटककार और निर्देशक की अन्योन्यता की आवश्यकता को इस उद्धरण द्वारा स्पष्ट किया है - A poet should 'the fellow' of the other artists working in the theatre. He and the other artists should be working together to go to each other the greatest possible opportunities for the exercise of their powers.Whenever this happens in any theatre something noble is achieved'[1] नाटक को रंगमंच से जोड़ने के लिये पश्चिम में दर्शक सापेक्षता का उदाहरण देकर लाल ने हिन्दी में भी इसी आवश्यकता पर बल दिया है ।

निस्संदेह स्वतंत्रता के पश्चात हिन्दी नाटकों का नवोन्मेष पश्चिम की प्रेरणा और संस्कृत-रंगमंच की परम्परा के आधार पर हुआ है किन्तु इनसे वह अपने जिस स्वरूप का निर्माण कर रहा है, वह सर्वथा मौलिक होना चाहिये क्योंकि- 'हर देश,काल और

1- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच (फुटनोट) पृ0 15

युग का रंगमंच तथा उसका नाट्य-लेखन उसकी अपनी परिस्थितियाँ अपनी सामर्थ्य (रिसोर्सेज) के अनुसार ही विकसित होगा और हुआ है। इस विकास का सीधा सम्बंध उस देश, युग और काल की अपनी अतिरिक्त शक्ति है। पश्चिम की उपलब्धियाँ हमारे सामने हैं, हम उनसे महज रंगशिल्प के स्तर से मदद ले सकते हैं पर हम उनकी सामूहिक उपलब्धियों से अपनी उपलब्धि नहीं पा सकते।[1] अपनी परम्पराओं के मध्य से और अपने संस्कारों की भूमि में पनपता नाटक और रंगमंच का यह ढांचा सर्वथा निजी है जिसे हम अपने यहाँ का 'टोटल थियेटर' कह सकते हैं।

लाल की समीक्षा शैली को एक अन्य सर्वथा नये प्रतिमान(जिसका विवेचन अब किया जा रहा है) से देखे जाने पर कतिपय आश्चर्यजनक ~~श्र-र-~~ तथ्य स्पष्ट होते हैं। ये तथ्य हिन्दी की नाट्य-समीक्षा को समाजशास्त्रीय अध्ययन से सीधा जोड़ते हैं। इस प्रतिमान के अनुसार नाटक व रंगमंच को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा के सन्दर्भ में किये जाने सम्बंधी एक दृष्टि बनती है। यही नहीं, इस परंपरा ने हमारे आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच को किस प्रकार प्रभावित किया है,यह भी नाट्य-समीक्षा का एक पक्ष हो सकता है। लाल के तीनों ग्रन्थों- 'रंगमंच और नाटक की भूमिका', 'आधुनिकहिन्दी नाटक और रंगमंच' और 'पारसी हिन्दी रंगमंच' में उक्त सन्दर्भ भी मुख्य रूप से विवेचित हुए हैं। संस्कृत रंगमंच की परम्परा का हमारी आधुनिक रंग-परम्परा के लिये एक व्यापक ऐतिहासिक महत्व है। यह रंग-इतिहास मे हमें नाटकों और रंगमंच के विकास की दिशा में बढ़ने के लिये एक प्रकार की सांस्कृतिक दृष्टि प्रदान करती है। शिल्प के स्तर पर इस परंपरा के अध्ययन से भी नये नाटकों में फार्म के सम्बंध में नवीन दृष्टि प्राप्त होती है। यहीं पाश्चात्य रंगमंच को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ शिल्पगत अध्ययन का रूप दिया गया है। जिससे आधुनिक नाट्य कर्म के लिये तुलनात्मक आयामों

1- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-पृ0 22

का निर्माण होता है। नाटक व रंगक्षेत्र में विगत 50 वर्षों से एक रंगशून्य और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक शून्य का अनुभव रंगकर्मी के लिये दिशाहीनता का कारण बन सकता है। ऐसे में, तत्सम्बंध में शास्त्रीय व लोक परंपराओं के निदर्शन से दिशा प्राप्त हो सकती है। 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' में यही दृष्टि कार्य कर रही है। 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच' में हिन्दी नाटकों के अध्ययन में उसका सांस्कृतिक सन्दर्भ और स्वरूप प्रकट हुआ है। इन्हें निम्नांकित पंक्तियों में समझा जा सकता है :-

'अपने काल में नाटककार भारतेन्दु के सामने विशुद्ध नाट्य स्तर पर तीन धाराएं सामने थीं। पहली धारा थी-सांस्कृतिक नाट्य परम्परा और उससे भी नजदीक मध्य-युगीन लोक नाटकों की। दूसरी धारा थी तत्कालीन समाज में व्याप्त हिन्दी क्षेत्रों की अपनी लोक रंगतंत्रीय परम्परा पर एक लोक नाट्य-धारा की। तीसरी धारा थी पश्चिम की शेक्सपियरियन नाट्य-धारा जो दो रूपों में उस काल में प्रवहमान थी। पहला रूपथा शेक्सपियरियन के माध्यम से पश्चिम के रंगमंच का जो सीधे अंग्रेजों द्वारा(जो हमारे उस काल के शासक थे और जिनके हाथों में सारी सांस्कृतिक चेतना, शिक्षा आदि जिनके संचालन से समाज और देश आगे बढ़ने को था, उनके द्वारा लायी हुई और दूसरे उनकी नकल और कुछ यहां के स्वजातीय तत्वों के समन्वय से पैदा हुई व्यावसायिक पारसी 'थियेटर' की धारा।[1] यहां तीनों धाराओं में ही सांस्कृतिक सन्दर्भ छिपे हुए हैं।

' कुल मिलाकर इसमें इतना इतिहास, इतने तत्कालीन सांस्कृतिक सन्दर्भ और तथ्य हैं कि नाटक का गला ही जैसे रुंध गया है।[2]

\+ \+ \+

1- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच- पृ0 80

2- वही- पृ0 88

`नाटक में किसी देश काल की पूरी सांस्कृतिक विषयवस्तु बनाकर रचना करने की परंपरा हिन्दी में इतनी बढ़ गयी कि इसे लोग एक स्वतंत्र धारा मानने लगे।----इन सब भावनाओं और सत्यों को चरितार्थ करने के लिये और उसे उचित ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दिशा देने के लिये इस काल के कई नाटककारों ने अपनी विशिष्ट रचनाएं कीं। इन रचनाओं का केन्द्रीय उद्देश्य था देश में आन्तरिक एकता की स्थापना जो राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये परम आवश्यक था।[1]

पारसी हिन्दी रंगमंच` के सम्बंध में लाल की स्थापनाएं हिन्दी रंगमंच को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ में देखने का ही प्रयास हैं। परम्परा और शिल्प में प्रच्छन्न इस रंगमंच की सांस्कृतिकता असंदिग्ध है-`साथ ही हम यह भी देखें कि भारतीय संस्कृति का नाट्य परंपरा के ~~अवेश~~ अवशेष रूप में ही सही, इन नाटकों कीप्रकृति और इनकी नाट्य पद्धति,इनके अंक विधान, दृश्य-विधान विशेषकर मंगला-चरण प्रस्तावना में किस प्रकार समन्वय हुआ ?----- अत: हिन्दी के और हिन्दी की संस्कृति के विशेष सन्दर्भ में इसे पारसी हिन्दी रंगमंच कहना अधिक युक्तिसंगत है।[2]

समीक्षा को ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य देने में लाल का दृष्टिकोण एक कला-समीक्षकका दृष्टिकोण है। नाट्य-कला की समीक्षा को सांस्कृतिक सन्दर्भ देने की आवश्यकता पर बल देते हुए डा0 सुरेश अवस्थी का यह कथन इस सम्बंध में उपयुक्त प्रतीत होता है-`सांस्कृतिक परिवेश में कला समीक्षा का वास्तविक काम संगत करना है। कलाकार के साथ मिलकर उसी के साथ सहयात्री बनकर।[3]

~~स-स-ल-~~ लाल की नाट्य-समीक्षा में अनेक स्थानों पर प्रभाववादी दृष्टि

1- आधुनिकहिन्दी नाटक और रंगमंच- पृ0 95

2- पारसी हिन्दी रंगमंच-पृ0 22

3- हिन्दी में श्रव्य दृश्य कलाओं की समीक्षा की समस्याएं-डा0 अवस्थी,पृ0 12

भी देखने को मिलती है। ये वे प्रसंग हैं जहाँ वे तथ्य प्रतिपादन के अवसर पर भी भावावेग में आ जाते हैं। तब उनकी समीक्षा अपनी तकनीकी और वैज्ञानिक भाषा का त्यागकर काव्यभाषा बन जाती है। उदाहरण के लिये लाल का यह कथन - 'पश्चिम से सर्वथा अलग, सर्वथा विभिन्न यह है भारत का आधुनिक रंगमंच जिसका दर्शक वर्ग रंगशाला से विमुख 'पिक्चर हाउस' में बैठा है। प्रस्तुतकर्ता और अभिनेता उजड़ी हुई रंगशाला में झाड़ू दे रहा है, साथ ही किसी अनजाने नाटक का पूर्वाभ्यास कर रहा है तथा हाथ में निमन्त्रण पत्र भरे दर्शकों को रंगशाला में बटोरने के लिये मुंह के बल बेचारा दौड़ रहा है और नाटककार अपने बंगले में बैठा हुआ अपने सिर पर नाटककार होने का बड़ा सा मुकुट रखे हुए हैं - ऐसा मुकुट जिसमें अर्थ से ज्यादा बोझ है, सौन्दर्य से ज्यादा प्रदर्शन है। यही नाटककार वर्ग अगले दिन पश्चिम के रंगमंच और नाट्य-साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उसके प्रति अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त करता है। दूसरी ओर रंगमंच अध्येता अपनी नाट्य स्थिति बिना भोगे हुए ही रंगमंच आन्दोलन पर लेख लिख रहा है। और नाटक का अध्यापक अपने रंगमंच की उपेक्षा किये हुए नाटक के तत्वों पर व्याख्यान दे रहा है और रंगमंच अभाव पर घड़ियाली के आंसू बहा रहा है तथा मात्र कथोपकथन के अर्थ बताता हुआ रंगमंच कार्य को हिकारत की नजर से देखता हुआ नाटक के उत्थान पतन पर जोरदार भाषण दे रहा है। [1] रंगमंच और नाटक की स्थिति के सम्बंध में की गयी यह व्याख्या काव्यगत प्रभाव लिये प्रतीत होती है। यहाँ लेखक का भावावेग समीक्षा की ऋजु और तथ्यात्मक भाषा को ढंक लेता है। समीक्षा के ऐसे भाषागत प्रयोग भावावेग के कारण समीक्षक के आत्मानुशासन के भंग होने का कारण बन सकते हैं। लाल इस दोष से बच अवश्य निकले हैं किन्तु उसके कारण उक्त नाटकीय आवेग वाली भाषा को दोषयुक्त भी नहीं किया जा सकता।

लाल की नाट्य-समीक्षा का वैशिष्ट्य यह भी है कि उसमें नाटक व रंगमंच की व्याख्या के प्रतिमान वा उपकरण भी उसी प्रकृति के हैं। अभिनयात्मिका वृत्ति, रंगमंच का काव्य, दृश्यत्व बोध, त्रिआयामी रंगशिल्प, प्रस्तुतीकरण इत्यादि ऐसे

1- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच- पृ0 19

ही उपकरण हैं जिनके आधार पर लाल के तीनों ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने नाटक के पाठ्य-तत्वों (वस्तु, नेता, रस, भाषा, सम्वाद) की उपेक्षा की है। उन्हें भी समीक्षा में उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है किन्तु लाल ने उनकी व्याख्या रंगमंचीय बोध के साथ ही की है। फलत: वे केवल पाठ्य नाटक के तत्व मात्र नहीं बनते प्रत्युत उनकी रंगमंच की कला में समाहिति हो जाती है। इस रंगमंच बोध का ही परिणाम है कि पारसी हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त सम्वादों के मात्र कथोपकथन रह जाने की बात लाल कहते हैं- 'मतलब समझाना (बेताब) और भाव-विचार को 'प्रदर्शित करना- भाषा की इस केन्द्रीय प्रकृति ने यहां नाटक के सम्वाद को सार्थक नाटकीय बनाने की अपेक्षा प्रलाप, कथन, वाचन या अधिक से अधिक आवेग-पूर्ण कथोपकथन तक ही सीमित कर रखा है। यही कारण है कि जब अत्यन्त तीव्र संघर्ष के क्षण आते हैं तो सम्वाद केवल शब्दाडम्बर में छटपटाकर रह जाते हैं। सम्भवत: तभी जो अभिनय अर्थ सम्वाद से नहीं सम्प्रेषित हो पाता, पारसी अभिनेता पांव पटककर उसे ध्वनित करना चाहता है। अनावश्यक रूप से इतना हाथ पैर मारता है और वस्त्र झटकता है, तलवार, मुगदर या दण्ड हिलाता है।[1] वस्तुत: नाटक जैसी दृश्यकला में पाठ्य स्तर की समीक्षा के तत्वों को सन्दर्भगत व्याख्यायित करना ही अधिक उपयुक्त है, तभी उन तत्वों की सार्थकता है। नाट्य समीक्षा का क्षेत्र साहित्य की अन्य विधाओं को समीक्षा के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। ऐसे में नाटक को साहित्यिक समीक्षा के सामान्य मानदण्डों-कथावस्तु, चरित्र, उद्देश्य वा रस, सम्वाद, देशकाल वातावरण की कसौटी पर कसना उपयुक्त नहीं है। इन्हें नाट्य-समीक्षा में ऊपर लिखे अनुसार ससन्दर्भ प्रयुक्त करना ही अधिक समीचीन है जैसा कि कहा गया है - '---- मैं समझता हूं कि जब भी आप समीक्षा के क्षेत्र को एक्सपैण्ड करने की कोशिश करेंगे तो इस तरह से अन्तर्विषयक शब्दावली एक दूसरे क्षेत्र में आएगी। सवाल यह है कि आपके 'टर्म्स आफ रेफरेन्स' स्पष्ट होते हैं समीक्षा के दौरान या नहीं ? अगर मेरी समीक्षा के दौरान यह 'टर्म्स आफ रेफरेन्स' जो मैंने दूसरे विषयों से लिये हैं, स्पष्ट नहीं होते तो गलत है। लेकिन अगर जो बात मैं कह रहा हूं वह इससे स्पष्ट होती है तो मैं समझता हूं कि इसमें कोई खराबी नहीं है कि आप

1- पारसी हिन्दी रंगमंच- पृ0 104

दूसरे विषयों की शब्दावली लें। [1]

~~लक्ष्मी~~ लाल के सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थों में से प्रथम दो 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' एवं 'पारसी हिन्दी रंगमंच' में शोध-परक दृष्टि देखने को मिलती है जबकि 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच' में व्यक्तिगत मान्यताओं को अध्ययन का आधार बनाकर उसी परिप्रेक्ष्य में हिन्दी नाटकों का क्रमशः ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। फलस्वरूप यह ग्रन्थ लेखक के व्यक्तिगत चिन्तन का परिणाम अधिक है, अन्य दो ग्रन्थों की भाँति शोध परक नहीं।

शोधपूर्ण दृष्टि होने के ही कारण 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' और 'पारसी हिन्दी रंगमंच' को रचनागत पृष्ठभूमि में प्रभावी स्त्रोतों(Sources) पर विचार करना समीचीन होगा। रंगमंच और नाटक की भूमिका की रचना के पीछे सन् 1965 की वह विदेश यात्रा थी जिसने रचनाकार को नाटक और रंगमंच विषय पर परम्परा और दैन के स्तर पर पौर्वात्य और पाश्चात्य-दोनों ही सन्दर्भों से विचार करने की प्रेरणा प्रदान की। इस सम्बन्ध में लेखक का यह कथन उक्त तथ्य को ही प्रमाणित करता है -'इस पुस्तक लेखन के पीछे प्रेरणा-स्वरूप उस अबाध इतिहास की मूकवाणी सदा कार्य करती रही है,जहाँ भारत और पश्चिम के अनेक विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपनी अनेक उल्लेखनीय कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। [2] भारत और पश्चिम के रंगमंच का अबाध इतिहास हमारे वर्तमान रंगांदोलन को उसका निजी रूप प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकता है, वही परंपरा हमारे आधुनिक नाटक के लिये एक दृष्टि प्रदान कर सकती है। आधुनिक नाटक के लिये दिशा-बोध करने का ही परिणाम है कि इस पुस्तक में संस्कृत नाटकों में मध्य युग और पश्चिमी

1- हिन्दी में श्रव्य -दृश्यकलाओं की समीक्षा की समस्याएं-छायानट-कुंवरनारायण के विचार(गोष्ठी)जुलाई-दिसंबर 1977

2- रंगमंच और नाटक की भूमिका-निवेदन।

नाटकों में 'रेस्टोरेशन-युग' तक की रंग-परम्परा का विवेचन हुआ है। यही आधुनिक रंग-आन्दोलन केप्रेरणा बिन्दु बन सकते हैं। ग्रन्थ का 'रंगमंच 'प्रस्तावना' वाला अंश-क्रमश: 'रंगमंच-अन्वेषण' एवं 'रंगमंच और उसकी रीति ' में लाल की विदेश यात्राओं से प्राप्त रंग-दृष्टि है जिसका प्रमाण उनका यह कथन है- 'नाट्य के गौरवपूर्ण क्षेत्र और आयाम में , 'थियेटर' के ही सदृश ,उसी अर्थ-गौरव के समान, नाटक, रंगभवन,रंगशिल्प,अभिनय आदि सभी पक्ष समाहित थे पर आगे के लोगों ने 'नाट्य' को केवल नाटक(नाट्य के केवल एक अंग अथवा पक्ष) के ही स्तर पर विघटित कर लिया।--- थियेटर के लिये 'रंगमंच' बहुत उपयुक्त शब्द नहीं है पर इससे क्या। 'थियेटर' से भी अधिक उपयुक्त, गौरवपूर्ण शब्द जब 'नाट्य' को हमने अपनी सीमाओं से नष्टकर लिया तो फिर शब्द विशेष का उतना महत्व नहीं रह जाता।[1] 'रंगमंच' और 'थियेटर' एवं 'नाटक' और ड्रामा के सम्बंध में नवीन अर्थ बोध को प्राप्त करने की दिशा में विदेश यात्राओं में निकट से देखे गये पश्चिम के थियेटर से प्राप्त अवधारणा का ही हाथ है।

ग्रन्थ में संस्कृत नाटक और रंगमंच को पहले भाग में एवं पाश्चात्य नाटक और रंगमंच को दूसरे भाग में ऐतिहासिक और सैद्धांतिक दृष्टियों के साथ अलग-अलग विवेचितकिया है। इस विवेचन के लिये प्रमुख रूप से भरतमुनि कृत 'नाट्य-शास्त्र', धनंजय कृत 'दशरूपक' और अरस्तू कृत 'काव्यशास्त्र' को आधार बनाया गया है, बल्कि इन्हीं ग्रन्थों के सार तत्व को सरल भाषा में प्रस्तुतकिया है। ऐसे में इस ग्रन्थ का स्वरूप मूलत: संकलन का है। कहीं-कहीं मौलिक मौलिक चिन्तन भी हुआ है तो वह प्रासंगिक रूप में ही हुआ है। इसी के साथ,इस ग्रन्थ की एक सीमा यह भी है कि इसमें संस्कृत और पाश्चात्य-दोनों रंग-परम्पराओं के सम्बंध में दो भागों में, नितान्त एकाकी विवेचन किया गया है। अच्छा होता यदि दोनों

1- रंगमंच और नाटक की भूमिका-निवेदन,पृ0 5

परम्पराओं का वैशिष्ट्य उभरकर सामने आता और आगामी नाट्यान्दोलन के लिये एक समन्वित प्रेरणा दृष्टि प्राप्त होने में सहायता मिलती ।

लाल का अन्य ग्रन्थ `पारसी हिन्दी रंगमंच` हिन्दी भाषी क्षेत्र की एक लुप्तप्राय: रंग परम्परा पर एक खोजपरक दृष्टि देने का प्रयत्न है । इसके लिये लाल ने `प्रस्तुति` में निम्नांकित स्त्रोतों की ओर संकेत किया है -

1- भारत के इस परम्परा से सम्बद्ध केन्द्र और उनमें कार्यरत रंगकर्मियों से संपर्क ।

2- उर्दू,गुजराती एवं मराठी में प्राप्त सामग्री(ग्रन्थ) ।

3- हिन्दी व अन्य भाषाओंकी उनदिनों की पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों से प्राप्त सूचनाएं ।

4- पारसी थियेटर के दिनों के निर्देशक,अभिनेता,संगीत-निर्देशक और रंग-कर्मियों से भेंट ।

5- पारसी रंगमंच पर खेले जानेवाले नाटकों की पाण्डुलिपियां ।

उक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट होता है कि पारसी रंगमंच पर लिखित सामग्री से कहीं अधिक जानकारियां लेखक को इस परम्परा से सम्बद्ध व्यक्तियों से मिली हैं । इस कारण स वे तथ्यात्मक से अधिक पूर्वाग्रह पूर्ण प्रशंसा अथवा आलोचना के भय का भी कारण उत्पन्न करती हैं । ऐसे में लेखक की तटस्थता आवश्यक शर्त होती है । इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र से प्राप्त सूचनाओं के बीच से प्रामाणिक तथ्यों की खोज के लिये पारसी नाटकों को ही आधार बनाया गया है । इस प्रकार अन्तत: ग्रन्थ की प्रामाणिकता आधार पारसी हिन्दी नाटकों के विवेचन पर आकर केन्द्रित हो जाता है । चौथे,पांचवें,छठे,सातवें और आठवें अध्याय के विवेचन की तो सामग्री ही ये नाटक हैं । पारसी नाटकों के सम्बंध में लिखित स्तर पर अन्य स्त्रोतों के अभाव के कारण ये नाटक ही इस ग्रन्थ के मुख्य सूचना स्त्रोत हैं। इस कारण इस ग्रन्थ में इतिहास परक प्रतिमानों से अधिक महत्व नाट्य-समीक्षा के प्रतिमानों को मिला है । यही कारण है कि पारसी नाटकों के क्रमिक इतिहास की चर्चा करते समय थियेटिकल कम्पनियों की चर्चा के अतिरिक्त नाटककारों की व्यापक परंपरा का उल्लेख मात्र कर

सीधे तीन प्रतिनिधि नाटककारों (बेताब, हश्र व राधेश्याम कथावकचक) पर अपना अध्ययन केन्द्रित कर दिया गया है। सम्भवत: विस्तार भय के कारण ही ऐसा किया गया है। लेकिन यह भी उल्लेखनीय है कि लेखक ने इस व्यावहारिक और व्यावसायिक नाट्य-परंपरा के क्षेत्र में सैद्धांतिक समीक्षा के अभाव को भरने की दिशा में प्रारंभिक प्रयास किया है।

ये तीनों ग्रन्थ शोधपरक दृष्टि के तीन भिन्न-भिन्न आयामों की स्थापना करते हैं। 'रंगमंच और नाटक की भूमिका' में संस्कृत और पाश्चात्य रंग- परम्परा को परिचयात्मक रूप से प्रस्तुत किये जाने के कारण उसमें समीक्षापूर्ण दृष्टि की सम्भावनाएं प्रबल नहीं बन पायी हैं। तथापि प्रारम्भ के कतिपय अध्यायों-रंगमंच-प्रस्तावना-रंगमंच-अन्वेषण एवं उसकी रीति में समीक्षक की दृष्टि दिखायी देती है। 'पारसी हिन्दी रंगमंच' में ऐतिहासिक और रंग-मूल्यगत समीक्षा का समावेश हुआ है। पारसी हिन्दी नाटकों के लुप्तप्राय: इतिहास को इन नाटकों के रचनाकारों की जीवनियों, उर्दू नाटकों की तवारिखों और व्यक्तिगत साक्षात्कारों के माध्यम से उभारने का प्रयास किया गया है। 'आधुनिक हिन्दी अ नाटक और रंगमंच' में लाल कीसमीक्षा-दृष्टि पैनी है और आधुनिक हिन्दी नाटक की पूर्व परम्परा, स्वरूप समस्या एवं उसमें निहित पाश्चात्य सन्दर्भों की व्याख्या करती आगे बढ़ी है।